शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक



रमाकान्त पाण्डेय





शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक

रमाकान्त पाण्डेय



Published in 2010 by
Indica Books
D 40/18 Godowlia
Varanasi - 221 001 (U.P.)
India
E-mail: indicabooks@satyam.net.in
www.indicabooks.com

प्रकाशक
इण्डिका बुक्स
डी ४०/ १८ गोदौलिया
वाराणसी - २२१ ००१

ISBN: 81-86569-94-4

Printed by
Sadhana Press
Varanasi-2. Ph. : 9336838939



विषय-सूची



समर्पण

पुण्य-पुंज पूज्य पिता जी (स्व० श्री विश्वनाथ पाण्डेय जी)

को पावन प्रणाम पूर्वक प्रथम पुष्पांजलि

आभार

स्मृति-द्वीप के स्वर

कितने मुहावरों को लाँघ कर, कितनी किवंदतियों को तोड़कर और कितने सारे अवरोधों को दर-किनार कर के आदमी एक-एक सीढ़ी पार करता है। जहाँ कहीं रुक जाता है, वहीं लगता है, अन्तिम सोपान है। कभी ऊपर देखता है, कभी नीचे झाँकता है, तब उसे लगता है अभी ऊपर तो अनन्त सोपान है। नीचे तो गिने जा सकते हैं। स्मृति की एक परम्परा बनने लगती है या कहें होती ही है। तब, पीछे मुड़ कर देखने का मन करता है। तबीयत होती है किसी से पूछें कि उन काली आँखों की सपनीली उदासी में खिलते इन्द्रधनुष वैसे ही हैं, आमों की बौरायी सुगन्धि वैसे ही अल्हड़ युवती-सी घूमती है, नीम की मीठी छाँव प्राण-मन में वैसे ही घुलती है, लताओं और वृक्षों के संबन्ध उतने ही आलिंगन-प्रिय हैं, पोखर में मछलियाँ अब भी वैसे ही 'किलोल' करती हैं, पीपल की डालियों पर फुदकती मैना 'चहुँपियो-चहुँपियो' पुकारती है या नहीं? मुस्तफा जैदी के शब्दों में — आँधियाँ तो सुना उधर भी आईं, कोपलें कैसी हैं, शीशों के मकां कैसे हैं।

स्मृति की परम्परा का संकेत है कि प्रत्येक वर्तमान पर अतीत की धुँधली छाया पड़ी रहती है। हलके से इस यवनिका को हटाने पर एक चित्र उभरता है। माध्यमिक विद्यालय में मेरे हिन्दी के अध्यापक श्री कैलाश तिवारी जी रहे जिन्हें हम प्राय: 'सिलड़ी के पंडित जी' कहा करते थे। उनके शब्द-शब्द में लगता था जैसे अतिमानस के पीयूष का रस-बिन्दु छलक रहा हो। मेरे संस्कृत के अध्यापक पं० विश्वनाथ मिश्र का भी मेरे जीवन में नैतिक आधार प्रदान करने में बृहत् योग रहा। इन दोनों को मेरा प्रथम प्रणाम अर्पित है।

उच्च विद्यालय में मेरे प्रिय अध्यापक स्व० खेदन सिंह जी रहे। हिन्दी पढ़ाने की उनकी अद्भुत कला थी। वे जब कभी मेरा निबन्ध पढ़ते एक

उच्छल स्वर में बोल उठते — ''हलुआ तो खिलाते ही, मगर इतना कम क्यों?'' और पीठ पर एक थपकी देते। लगता जैसे माँ शारदा का आशीर्वाद बरस रहा हो। दूसरे थे वशिष्ठ त्रिपाठी जिनके प्रत्येक शब्द जैसे जीवन का रस लेकर फूट रहे हों। ऐसे गुरुओं को हार्दिक नमन।

पंछी को पंख निकल आएँ तो वह किस वृक्ष पर बैठेगा, कोई ठीक नहीं। गाँव का आँचल छोड़ कर बनारस में पाँव रखने पर शिव के सान्निध्य में आने का सन्तोष मिला और गंगा के पावन स्पर्श का सुख भी। तब गंगा कुछ और थी। अब तो उन्हें देख कर आँखें भर आती हैं। यहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रवेश लेने के बाद हिन्दी के प्राध्यापक डॉ० शिव प्रसाद सिंह से भेंट हुईं। वे एक ऊर्जस्वी लेखक भी थे। एक दिन अचानक उन्होंने टोक दिया ''ये पतंग क्यों उड़ाते हो?''। उन दिनों कुछ रचनायें नवनीत, कादम्बिनी, आज, वैदिक स्वर, विज्ञान प्रगति, साईंस रिपोर्टर आदि पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। मैं चौंक गया और पूछा — ''सर, कैसी पतंग?''। ''वही जो तुम पत्र-पत्रिकाओं में भेजते हो। तीन-चार पेज की रचनायें। जब तक पतंग जैसी उड़ती हैं, तब तक मजा, फिर टाँय-टाँय फिस्स। कुछ स्थायी नहीं। किसी एक विषय को चुन लो और एक पहलू पर कम-से-कम दस पेज लिख कर रखते जाओ। दस साल बाद पढ़ो। अगर वे काल के साथ जीवित हों तो मुझे दे दो। मैं किताब के रूप में छपवाने की कोशिश करूँगा।'' तब से मेरे लेखन की विधा बदल गई। ऐसी वाक्-विभूति को कोटिशः प्रणाम।

मैं पाँच साल तक डॉ० शिव प्रसाद सिंह के मकान 'सुधर्मा' निवास में किराएदार के रूप में रहा। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी रवीन्द्रपुरी से चलकर डॉ० शिवप्रसाद सिंह के मकान तक आते थे। डॉ० शिव प्रसाद सिंह उनके प्रिय शिष्य थे। लेकिन, मैंने ज्ञान की पृथक् विधा भौतिकी का चयन किया था। फिर भी, मेरा डॉ० हजारी प्रसाद से एक सात्त्विक संबन्ध जुड़ गया था। वे अगाध श्रद्धा के पात्र थे। वे संक्रामक हँसी के धनी थे और उनकी छाया में दो क्षण बैठना भी अहोभाग्य था। मुझसे व्यंग करते कहते — ''तुम्हारा आईन्स्टाईन भी कितना धन्य हैं, मानता है कि प्रत्येक वस्तु गुरुत्वाकर्षण द्वारा खिंच कर पृथ्वी पर आ गिरती है। लेकिन, यह नहीं बता पाता कि कोमल

दूर्वा कठोर चट्टान को चीर कर ऊपर बढ़ती चली जाती है?''। मैं हँस कर कहता शायद उन्हें प्राण-तत्त्व का बोध न रहा हो। उनके साथ बैठने वाला वामन भी विराट होकर बाहर निकलता था। लेखन के बारे वे कहते — ''लिखो तो अपनापन खो देने के लिए और हाँ, बैठो वहीं जहाँ तुम्हारा देवत्व जाग्रत हो''। ऐसे 'पुनर्नवा' के प्रणेता प्रतीक पुरुष को मेर जैसे 'अनामदास' का पुनः-पुनः वन्दन।

एक घटना जो बार-बार याद आती है। तब मैं काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के प्राचीन ब्रोचा होस्टल के छात्र संघ का अध्यक्ष था। छात्र-संघ के उद्‌घाटन के लिए किसी विद्वान पुरुष को लाना था। अचानक मेरे मन में आया और मैं भारतीय संस्कृति के प्रख्यात मर्मज्ञ डॉ० वासुदेव अग्रवाल के पास निवेदन करने चला गया। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। अध्यक्ष पद से मैं अचानक बोल गया — "Man is a mistery in search of his meaning, I hope Dr. Agrawal will quench this thirst"। और तब, डॉ० अग्रवाल ने बोलना शुरू किया। होस्टल का लॉन भरा था। सड़क भी खचाखच भर गई थी। पूरे डेढ़ घंटे तक लोग उनकी वक्तृता से अभिभूत ठिठके-से सुनते रहे। उनकी वाणी में कैसा जादू था। फिर उन्हें छोड़ने गया तक उन्होंने पूछा — ''क्या पढ़ते हो?''। मैंने कहा — ''भौतिकी, लेकिन संस्कृत में भी अभिरुचि है।'' फिर उन्होंने कहा — ''तुम कालिदास का मेघदूत और ऋग्वेद के ऋषि दीर्न्घतमस की ऋचाओं को ज़रूर ध्यान पढ़ जाना।'' मुझे लगा, घने अन्धकार को चीर कर देखने वाला ऋषि बेजोड़ है। इस संस्कृति-चेता को हार्दिक अभिवादन।

मेरे अन्तिम गुरु पद्म भूषण आचार्य विद्या निवास मिश्र रहे। प्रज्ञान का इतना विराट् फलक और प्रतिभा का इतना प्रौढ़-परिपक्व आयाम कहीं और देखने में नहीं आया। मेरा उनसे सम्बन्ध बिल्ली और राजा जैसा था। कहीं वे एक धुरीण वक्ता और मैं चुपचाप देखने वाला पंक्ति का आखिरी व्यक्ति। जैन इंस्टिट्यूट में पहली बार मिला। 'काल तत्त्व' पर अभिभाषण का दौर था। वैज्ञानिक संधारणा पर प्रकाश डालने के लिए मेरा नाम आया। तब तक एक अफ़वाह जैसी बात थी कि आचार्य किसी के भाषण के बाद ताली नहीं

बजाते था। जब मैं भाषण समाप्त कर बैठा तो उनकी ताली बज रही थी। लोगों को लगा आखिर अघटित घटित कैसे हुआ? जो भी हो, उन्होंने मेरा विषय पूछा और ''इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दुइज्म'' के विज्ञान प्रभाग का मुख्य संपादक बना दिया। फिर, उन्होंने साथ लिया और दिल्ली, ऋषिकेश, चेन्नई, चिदम्बरम आदि स्थानों पर भाषण दिलवाते रहे। उनकी कामना थी कृष्ण और शिव पर मुख्य कृति तैयार करना। मेरे में वह क्षमता तो नहीं, लेकिन उन्हें नमन कर के दोनों विषयों पर कुछ लिखने की कोशिश की है। पहली पुस्तक *शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक* और दूसरी *कौन बन बाजि रही बाँसुरिया* हैं। ऐसे विरल विद्वान को अंतस्तल से प्रणाम।

मेरे युवा आशु लेखक मित्र श्री गौतम चटर्जी हैं। वे रस-बोध के भाव-पुरुष हैं। वे 'अभिनवगुप्त अकादमी' के अध्यक्ष और मेरे उत्प्रेरक भी हैं। मेरे निबन्ध ''गंगा-उत्तर-मानस की नदी'' की रसाढ्य विभावना भी कर चुके हैं। एक दिन यही बात चल रही थी। संयोग से श्री दिलीप कुमार जायसवाल जी भी साथ थे। वे 'इण्डिका बुक्स' के प्रकाशक हैं और जैसा कि कवि कालिदास ने कहा है — जिसका दिलीप नाम हो उसका हृदय क्षीर-सागर में नहा कर निकले चन्द्रमा की तरह स्वच्छ और निष्पाप होता है। मैंने अपनी (*शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक*) पांडुलिपि की चर्चा की और तत्काल उन्होंने यह कहते हुए कि ''यह तो काशी का विषय है'' औचक अधिग्रहण कर लिया। मैं दंग रह गया। ऐसे निश्छल प्रकाशक भी मिलते हैं! इन दोनों को मेरा अन्तर्मन से साधुवाद।

मेरे भइया (श्री विपिन बिहारी पाण्डेय) स्वयं परम शिव-भक्त हैं। उनकी साँस साँस में मेरी शुभ कामना निवास करती है। उन्हें मात्र अक्षर-भर छाँव से सुख नहीं मिल सकता, लेकिन उन्हें पता चलेगा कि ये मेरे अक्षर हैं तब शायद आनन्द आए। यही मेरी उपलब्धि है। उन्हें मेरा सतत प्रणाम। पत्नी (श्रीमती रजनी पाण्डेय) ने यथासंभव सहयोग दिया है, विशेषत: विषम परिस्थितियों में जहाँ पैर लड़खड़ाते हैं। उनके साथ तो अपना जीवन ही जुड़ा है।

जब गाँव की याद आती है और हवा में सोंधी गन्ध के किंजल्क उड़ते हैं तब श्रीयुत् दयाराम मिश्र (दया चाचा) की तस्वीर अक्सर उभर आती है।

साथ ही श्री विश्वंभर पाण्डेय, श्री सियाराम पाण्डेय और श्री शिवनाथ जी आदि की प्रशंसा मेरा संबल रही है। अपने आत्मीय डॉ० सिद्धनाथ उपाध्याय, डॉ० महेन्द्रनाथ राय, डॉ० अवधेश नारायण मिश्र, डॉ० राम मोहन पाण्डेय, डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, श्री चन्द्रभूषण धर द्विवेदी, डॉ० सूर्य नारायण ठाकुर, डॉ० श्रवण कुमार तिवारी, डॉ० दीप नारायण त्रिपाठी, डॉ० रामेश्वर मिश्र आदि की अनुशंसा भी मेरी शब्द-ऊर्जा में सहायक रही है। इन्हें मेरा अनुदिन नमस्कार निवेदन है।

स्मृतियों के कुछ द्वीप डूब गये हैं, कुछ बंजर हो गए हैं, कुछ निर्वृक्ष उजाड़ पड़े हैं। लेकिन, मेरे मन में अभी भी वे उतने ही शाद्वल और प्राणवन्त हैं। मेरा कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, वह इन्हीं गुरुजन का आशीर्वाद है। आशा है, आपका सहयोग मार्ग-दर्शन करेगा। क्योंकि — दिया जिन्होंने स्नेह,

सभी का ऋण मुझ पर है
मेरा क्या है?
मैं तो लघु दीपक की बाती।

रमाकान्त पाण्डेय
काशी, महा शिवरात्रि
१२-०२-२०१०



भूमिका

शिव कोई तथ्य नहीं एक तत्त्व हैं, वे कोई वस्तुपरक सत्ता नहीं हैं, बल्कि आत्मपरक देवता हैं। संक्षेप में, वे 'तत्' और 'त्वं' के अभिन्न रूप हैं। वे केवल मात्र हैं। उनका वर्णन संभव नहीं है, क्योंकि, जो संस्था 'त्वं' और 'तत्' से एकाकार होगी वही शिवत्व को बोध करा सकती है। और, उस आत्म-बोध की स्थिति में व्यक्ति केवल 'शिवोऽहं' के अतिरिक्त कुछ भी कह नहीं सकता। शिव शब्द-सापेक्ष नहीं हैं। अर्थात्, वे वर्णन से परे वर्णनातीत हैं। इसीलिए, श्रुतियों ने इस सन्दर्भ में कहा है — ''शिवं अद्वैतं मन्यन्ते''।

चतुर्थ, यानि तीन से ऊपर, अर्थात्, चेतना की तीन अवस्थाओं — जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की सीमाओं में न बाँधकर अनाविल चेतना का विषय है। सच तो यह है कि जागरण अवस्था की घटनाएँ झूठ होती हैं। मसलन, सूरज डूबता है, हम स्थिर पृथ्वी पर घूमते हैं या आसमान नीला है। सच तो यह है कि सूरज न पूरब में उगता है, न पश्चिम में डूबता है, वह ज्यों का त्यों बना रहता है। पृथ्वी पर हम नहीं, स्वयं पृथ्वी भी घूमती है। आम तौर पर लोग कहते है कि आकाश नीला है। लेकिन, आकाश कितने रंग बदलता है। वस्तुत:, सारी चीजें सापेक्ष हैं। इसलिए, जागृति का कोई सत्य निरपेक्ष नहीं होता। हम जागरण की स्थिति में जो कुछ कहते हैं, निरा झूठ होता है।

जागरण और नींद के बीच की स्थिति स्वप्न है। स्वप्न में सत्य की प्रतीति जागते ही शुद्ध भ्रम-सी लगती है। सच कहा जाय तो स्वप्न दोहरे झूठ का पर्याय है। जब तक हम सपना देखते हैं तब तक स्वप्न सत्य लगता है,

लेकिन जागने पर वह निठाह झूठ में बदल जाता है। नींद की कथा अज़ीब है। नींद का अधिकांश तो स्वप्न ही होता है जो हमें याद नहीं रहता। हाँ, उसका स्वल्पांश एक-दो मिनट-का होता है जिसे सुषुप्ति की संज्ञा दी जाती है। सुषुप्ति का अर्थ है — 'स्वं आप्नोति'। अर्थात्, जहाँ व्यक्ति की आत्मा अपनी अवस्था में होती है। विडंबना है, इस अवस्था का हमें बोध नहीं होता। अत:, कठिन है यह कहना कि नींद में क्या होता है? ये तीन अवस्थायें होती हैं जिनमें सत्य का कोई अनुभव नहीं होता।

इन तीन अवस्थाओं से पृथक् चौथी अवस्था होती है, जो तीनों में व्याप्त रहने के बावजूद उनसे अलग होती है और चतुर्थ कहलाती है। इस चेतना की अवस्था को भावातीत या 'तुरीय' कहा जाता है। एक ओर यह तीनों अवस्थाओं से जुड़ी रहती है और कहा भी जाता है — "तुरीयां त्रिषु संततम्"। दूसरी ओर, यह हमें ब्राह्मी अवस्था से मिलाती है। सत्य की अनुभूति हमें इसी अवस्था में होती है। इसीलिए, कहा जाता है — शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।

यह विचित्र अवस्था है। इसमें अवस्थित स्वप्नावस्था में भी जाग्रत होता है। गहरी नींद में भी जागरण जैसा सारी सत्ता को यथावत् देखता है। वह जानता है कि नींद में मन कहाँ लीन होता है? वह प्राण को शरीर से पृथक् करके देखता है। कब व्यक्ति चिड़िया बन कर उड़ने लगता है, कैसे कोई बाघ बन कर सामने दहाड़ने लगता है, या कैसे साँप बनकर फुत्कारने लगता है? इस सन्दर्भ में एक उदाहरण लिया जा सकता है। स्वामी रामतीर्थ अमेरिका में भाषण देने गए थे। एक दिन वे शिष्यों को छोड़कर अकेले टहलने निकल पड़े। रास्ते में लौटते समय कुछ धर्मान्ध क्रिस्चीयन युवकों ने ढेले से उन्हें मारा। वे आहत अवस्था में शिष्यों के बीच लौट आए और घावों से निर्लिप्त रहकर बोले — "देखो न, वह जो रामतीर्थ आ रहा था, उसे कुछ लोग ढेला मार रहे थे।" यह एक स्थिति है, जब व्यक्ति शरीर को आत्मा से पृथक् मान लेता है। वैसे, चोट रामतीर्थ को ही लगी थी, लेकिन वे चेतना को शरीर से अलग मान बैठे थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसी मान्यता दूर की कौड़ी है।

वैसे, यह किसी साधारण पुरुष की बात नहीं है। किसी योगी की भी बात नहीं है। यह किसी उत्तर-योगी के लिए ही संभव है। यही कारण है कि शंकर को योगीश्वर कहा जाता है। यह योगेश्वर से बृहत्तर स्थिति है। गीता ने श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा है, लेकिन *भगवद्गीता* में कृष्ण ने शंकर को अपनी आत्मा माना है। वेद का मानना है कि राम चन्द्र में से यदि चन्द्र को हटा दिया जाय तो सारे चन्द्रमा के गुण (विशेषतः शीतलता) लुप्त हो जाते हैं और राम अग्नि या रुद्र के प्रतीक हो जाते हैं। शंकर का एक नाम भी रुद्र है। रुद्र, वस्तुतः, एकवर्णी ज्योति का पर्याय है।

एक योगेश्वर है जो निरभ्र आकाश में विचरण करता है और दूसरी ओर योगीश्वर है जो व्योमहीन अम्बर में संचरण करता है। योगेश्वर काल के सभी आयामों में गत्वर रहता है जबकि योगीश्वर कालहीन समय में व्याप्त रहता है। योगेश्वर सारी सृष्टि के अमृत का पान करता है और योगीश्वर परमेष्टिमंडल के अमृत से संतृप्त बैठा रहता है। एक ओर योगेश्वर श्री कृष्ण हैं जो संसार-वृक्ष के किसी भी फल को त्याज्य नहीं मानते। युद्ध के समय भी वे वेदान्त की निर्मल धारा में स्नान करते हैं और निकुंज में गोपियों के परिरंभण का भी रस लेते हैं। दूसरी ओर, योगीश्वर शिव हैं जो निरन्तर परम सिद्धि के सानिध्य में समाधिस्थ रहते हैं। कृष्ण वेद के उस पंछी की तरह हैं जो वृक्ष के प्रत्येक फल को पूरी तन्मयता से खाता हैं — कच्चा-पक्का, मीठा-तिक्त या कड़वा-करैला जो भी हो। और, बाद में रुक कर सोचता है — क्या कुछ पता नहीं? लेकिन, योगीश्वर उस दूसरे पंछी की तरह है जो चुपचाप बैठा सब कुछ देखता रहता है। न किसी मोह से ग्रस्त होता है, न किसी कारण सोच करता है। नित्य आनन्द में निरन्तर निमग्न रहता है। रमण महर्षि ने प्रकारान्तर से इसी बात को इस रूप में व्यक्त किया है — In the court of Chidambaram, Shiva, motionless by nature, dances in rapture for Shakti and She stands motionless. Know that in Arunachalam. He stands in solemnity and She withdraws there into His unmoving self.

अब, निष्कर्ष निकलता है कि सत्य अवाच्य है। वाणी से परे, कल्पना से अचुम्बित और कारण से अतीत है। वह गतिहीन है, साथ ही गतिशील भी

है। शब्द से बँधने लायक नहीं है। सत्य सर्व सकारात्मक है और साथ ही नकारात्मक, निर्विशेष भी है। एक प्यास की अनुभूति है, लेकिन किसी व्यंजना की पकड़ से बाहर रह जाती है। इसे चाहें तो गूँगे का गुड़ कहें या वैज्ञानिक सन्दर्भ में इसे 'नृत्य और नर्तक की एकरूपता' कहें। सत्य का वास्तविक रूप स्वयं उसकी अपनी इयत्ता है। वह किसी के लिए किसी का नहीं होता। वह उत्तर योगी की मूक अवस्थिति का द्योतक है। जो कुछ 'है' वह सत्य है और जहाँ 'होना' शुरु होता है, वहीं से झूठ का प्रपंच आरंभ होता है। इसी सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है —

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई,
जानत तुमहिं, तुमहिं होइ जाई।

सत्य का प्रश्न इतना दुरूह है कि उत्तर के लिए सिद्ध पुरुष शंकराचार्य की ओर देखना पड़ेगा। "मैं कौन हूँ" इसके उत्तर में उनका कहना है कि "मैं न मनुष्य, न देव, यक्ष, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई नहीं हूँ। मैं जाति-विवाद से पृथक् हूँ। ये सब देह के धर्म हैं। मैं देह-धर्म से ऊपर ज्ञानरूप या आत्मबोध स्वरूप हूँ।" अपने अस्तित्व के संबन्ध में उनका कथन है — "मैं ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों से अतीत हूँ। मैं तो केवल नित्य और शिव स्वरूप, आत्मा हूँ।" सत्य पर आवरण से झूठ उत्पन्न होता हैं जो श्रमसाध्य है। सत्य तो निरन्तर खुला और स्वयं साध्य है। वह शिव स्वरूप है। अहं आत्मा का निकृष्टतम शत्रु है। एक निरहं निराकार आकृति ही सत्य का स्वरूप है।

शिव समस्त ऊर्जा के सामंजस्य हैं। ऐसा रूप केवल चेतना के आधार पर ही प्रतिफलित होता है। इसलिए इसे सुन्दर कहा जाता है। वस्तुत: व्यक्ति के अन्तर्मन में जिस परम रस का छलकाव होता है उसे प्रचलित शब्दावली में सौन्दर्य कहा जाता है। इसका सत्य से सीधा संपर्क होता है। दैहिक तल पर अंगों का सुभग सन्तुलन सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यह एक क्षणिक सुख भी देता है और अन्त में विद्रूप वैभव के दारुण दु:ख का दैन्य भी देता है। यही संतुलन जब मानसिक हो जाय तो सुख और आनन्द का मिला जुला अनुभव हो जाता है। लेकिन, जब यह परामानसिक अवस्था में पहुँच जाय तो

क्षण-क्षण नवीन और सतत रमणीय हो जाता है। यह शुद्ध आनन्द का जनक होता है।

वैसे जगत के काफी लोग हैं जो मानते हैं सत्य कटु होता है। हम उच्च-विचार के तल से चाहें तो इसे अल्पज्ञता का प्रलाप कह सकते हैं। वस्तुतः, सत्य सदा मधुर होता है। जो सत्य है वह कटु नहीं हो सकता और जो कटु है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि कटु और सत्य दोनों शब्द परस्पर-विरोधी हैं। इसीलिए, कहा गया है — ''यत् सत्यं तत् शिवम्, यत् शिवम् तत् सुन्दरं।'' जो शिव है, वही सत्य हे और सत्य और सुन्दर दोनों पारमार्थिक दृष्टि से समानार्थी शब्द हैं।

सौन्दर्य पर थोड़ी गहराई से विचार करें तो पाएँगे कि आम दृष्टि से हम मात्र भौतिक अवयवों पर ठहर जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों के सामंजस्य की सुष्ठुता को ही हम सुन्दरता समझ बैठते हैं। लेकिन, सही अर्थ में हमारी दृष्टि का दोष हमारे निर्णय पर हावी हो जाता है। वैसे भी, तन-मन की युगल प्रक्रिया में तन ही जीत जाता है। लेकिन, यह प्रक्रिया क्षण भर में ही छू-मन्तर हो जाती है। कालान्तर में, जब शरीर की दुर्गन्ध सामने आती है, तब मन शरीर को पटकनी देने लगता है और लगता है कि मन की सुन्दरता ही सुन्दरतर है। मन के ऊपर भी एक उत्तरमन है और सौन्दर्य वहाँ स्थायी भाव ग्रहण करता है।

शिव शब्द स्वयं इतना भाव भरा है कि बिना बाह्य अवलंबन के सब कुछ बता देता है। प्राचीन ऋषियों के कुछ शब्दों को उलट कर नवीन भाव-सृष्टि की है। जैसे, पश्यक का उलटा कश्यप, आत्मा का माता, हिंस का सिंह, वेद का देव, खन का नख आदि अनेक शब्द एक अर्थान्तर प्रस्तुत करते हैं जो चेतना के विभिन्न स्तरों पर इन शब्दों की व्याख्या करते हैं। इसी तरह, शिव शब्द का उल्टा विश्व बन जाता है, तात्पर्य यह कि शिव की बात करने में हम केवल विश्व-कथा कह सकते हैं। लेकिन, वस्तुतः शिव की चर्चा के लिए किसी परात्पर लोक की या ऐंटिब्रह्माण्ड की शरण में जाना पड़ सकता है। शिव केवल कण-कण में ही नहीं प्रत्येक प्रतिकण या ऐंटिकण में भी रमण करते हैं। शिव की एक विशेषता यह भी है कि वे वहाँ

भी उसी रूप में व्याप्त हैं, जहाँ हम समझते हैं कि कुछ भी नहीं है। वे मात्र ब्रह्माण्ड के ही नहीं, ऐंटि-ब्रह्माण्ड के भी आराध्य हैं। सृष्टि के सभी अस्तित्व रूपों में उनकी व्याप्ति सहज संभव है, लेकिन, अनस्तित्व में भी उतने ही निर्बाध रूप में शामिल रहना शिवत्व पहली पहचान है। और, यही पहचान उन्हें देवाधिदेव के रूप में स्थापित करती है।

इन्हीं संधारणों के आलाक में वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट शब्द में पूछा था — वह कौन अद्‌भुत देवता है जो पास पहुँचते ही अंतर्धान हो जाता है — "कस्तद् देव यतद्‌भुतम्... उताधीतम विनश्यति"। वह देवता सचमुच विचित्र है, जो दूर से दिखाई तो देता है, लेकिन समीप जाते ही वह ओझल हो जाता है। भारतीय मनीषा उन्हें महज़ एक देवता ही नहीं, अपितु, महत् देवता की संज्ञा देती है। शिव सचमुच गोतीत हैं, वे वाणी की वहन शक्ति से परे हैं। संक्षेप में कहें, तो देवाधिदेव हैं।

शिव साक्षात् करुणा की मूर्ति हैं। इसका जीवन्त प्रमाण है गंगा का उनके मस्तक से निर्बाध धरती की ओर बहना। वे 'जलास भेषज' भी हैं। ढेर-सारे रोगों का निदान जल द्वारा ही संभव है। इस कार्य में गंगा उनकी सहायक है। यदि माँ का दूध न मिले तो गंगा जल से काम लिया जा सकता है। जन्म से लेकर, मृत्यु तक में गंगा-जल जीवन को एक स्वस्थ आयाम देता है। लेकिन, अब गंगा स्वयं रुग्ण है और लगता है सारी मानवता दुधमुँहे बच्चे की तरह अपनी सूखे स्तन वाली माँ की ओर उसके वृद्ध मांस से दुग्ध प्रवाह की लालसा में लटकी हैं। कुछ लोग धनोपार्जन के लिए गंगा शुद्धीकरण के लिये कोई न कोई मुहिम चलाते रहेंगे। लेकिन, सब कुछ व्यर्थ हैं। अब, गंगा बँधी है, सैकड़ों बाँध है, हजारों नालियाँ बहती है, अनेक धोबी घाट हैं और सर्वोपरि बात है कि हर आदमी गन्दा है।

पुराणों की मान्यता के अनुसार कलियुग के पाँच हजार साल बाद गंगा सूख जाएँगी। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* का कहना है —

कलौ पंच सहस्त्रं च वर्षं स्थित्वा च भारते,
जग्मुस्ताश्च सरिद्रूपं विहाय श्रीहरेः पदम्।

सरस्वती का गंगा को यहीं शाप था। गंगा ने विपन्न भाव से कहा था — ''अभी मैं भारतवर्ष में जा रही हूँ। लेकिन, जब पापी लोग मुझे पाप से लाद देंगे तब मैं बोझिल होकर स्वयं शिथिल पड़ जाउँगी।'' अब कलियुग के 5110 वर्ष बीत गये हैं। वैसे, ग्लैशियर का तेजी से पिघलना और गोमुख का गंगोत्री से खिसकना यह संकेत कर रहा है कि गंगा अपने दिव्य नदी रूप से सूख चली हैं।

प्रश्न उठता है, अगर शिव के मस्तक से गंगा अलग हो जाय या सूख कर बालू की रेत बन जाय तो शिव की करुणा का क्या होगा? एक गंगा धरती पर बहती है, दूसरी आकाश में तारों का समूह समेट कर आकाश गंगा के रूप में प्रवाहित होती है और तीसरी गंगा जिसे पाताल-गंगा कहा जाता है, प्रत्येक प्राणी के अन्तर में झिलमिलाती है। पहले पृथ्वी की गंगा सूखेगी। फिर, आकाश-गंगा भी किसी तारकीय तूफान में या कृष्ण-विवर के आवर्त्त में विलीन होगी। लेकिन, जब तक एक भी प्राणी जीवित रहेगा गंगा 'ओंकार' के रूप में जीवित रहेगी। वस्तुतः, शिव के विकराल स्वरूप नर्त्तन होगा जिसे शिव की तीसरी आँख का भ्रू-विक्षेप कहा जाता है और, तब एक विराट शून्य और परम शान्त वातावरण का अवतरण होगा जिसे हम महाप्रलय कहते हैं।



ज्योतिर्लिंग का दर्शन

ज्योति कोमल प्रकाश की संज्ञा है और लिंग कारण का पर्याय है। अत:, ज्योतिर्लिंग का अर्थ है कि प्रकाश सारी सृष्टि के उद्भव का कारण है। प्रकाश भौतिक जगत का सूक्ष्मतम और सरलतम तत्त्व है। जो सबसे सरल होता है उसी में सब कुछ के कारण होने की संभावना रहती है। जो संयुक्त, सम्मिश्र या सांयोगिक है उसमें निश्चित रूप से अनेक तत्त्वों का योग होगा। कोई यौगिक पदार्थ सूक्ष्मतम नहीं हो सकता, क्योंकि जुड़ने का निष्कर्ष ही है जटिल और कुटिल होते जाना और जो सबसे सूक्ष्म नहीं होगा वह न सबसे सरल होगा, न सबमें व्याप्त होगा। विज्ञान की दृष्टि से भी आदि-पंक में सूर्य की किरणें जीवन की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी होती हैं। इसीलिए, प्रकाश को दृश्य लोक का कारण समझा जाता है और इसी संधारणा को ज्योतिर्लिंग का रूपक दिया जाता है।

ज्योतिर्लिंग की संकल्पना वेदान्त चिन्तन की अनूठी देन है। अन्तश्चेतना के जितने बिम्बों और सत्य की व्याख्या के जितने जीवन्त प्रतीकों की पकड़ वेदान्त के सूत्रों में है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेदान्त दर्शन ही नहीं, दृष्टान्त भी है। सबसे बड़े दृष्टान्त तो स्वयं आचार्य शंकर हैं। महज आठ साल का बटुक अपने गुरु को 'निजबोधरूप:' कह कर अपना परिचय दे तो ऐसा परिचय ही एक विराट दर्शन का रूप ग्रहण कर लेता है। ज्ञान के प्रतिपाद्य को प्रत्यक्ष देखना और अव्यक्त सत्ता को प्रकट आकृति प्रदान करना भारतीय दर्शन की अपनी विशेषता है। ज्योतिर्लिंग ऐसे ही मार्मिक दर्शन की शाद्वल अवधारणा है। सारी प्रकृति में जितना कुछ हम जान पाते हैं उसका सारा श्रेय प्रकाश को है और जब भारतीय मनीषा प्रकाश की बात करती है तब वह केवल सूरज, चाँद या दीपक की ही नहीं संवेदना, प्राण और प्रज्ञा की ज्योति को भी समेट कर चलती है। वस्तुत:, ज्योतिर्लिंग को 'प्रज्ञा का प्रकाश' कहना अधिक समीचीन होगा।

सामान्य दृष्टि से भौतिक प्रकाश को ही पर्याप्त मान लिया जाता है। लेकिन, प्राणिक ऊर्जा की मृदुल लहरों में भी एक प्रकाशीय अनुगुंजन होता है, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में जैव-प्रकाश कहा जाता है। अपनी कोशिकाओं के कणों में संवेदना की सिहरन से भी एक दीप्ति का स्फुरण होता है। ऐसी ही चेतना के उत्तर प्रान्त में एक आभा बिखरती है जिसे अध्यात्म-ज्योति कहना अनुचित नहीं होगा। एक ओर जीवन है, मन है, प्राण हैं और दूसरी ओर देह है, पदार्थ है, परिस्थितियाँ हैं। इस प्राण और पदार्थ दोनों की आपसी क्रियाओं की एक तरङ्गिल आवृत्ति होती है। इन तरंगों में एक तालबद्ध लय भी होती है। इसी लय की स्वर-साधना अध्यात्म का मूल विषय है। सारे प्राणियों का एक अपना दिव्य प्रभा-मण्डल होता है। इस प्रभा को सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त ज्योति से एकाकार कर लेना और सृष्टि में समन्वय की बाँसुरी का स्वर सुनते रहना आध्यात्मिक प्रकर्ष का परिचय पाना है। आध्यात्मिक ज्योति और प्रज्ञा के प्रकाश में एक गूढ़ सम्बन्ध है और उन्हें एक-दूसरे से अलग करके देखना सम्भव नहीं है।

ज्योतिर्लिंग की अवधारण जितनी आध्यात्मिक है उससे कम वैज्ञानिक नहीं है। हमारी स्थूल दृष्टि की सारी सम्भावनायें दृश्य प्रकाश के स्पेक्ट्रम तक ही सीमित रहती हैं और ऐसी स्थिति में प्राणों की सूक्ष्म ज्योति का कलरव अनसुना रह जाता है। ऋषियों ने सदियों पहले संकेत किया था कि नंगी आँखों का सत्य ही सब कुछ नहीं है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सीमा से बाहर, अल्प-विकसित मन के ऊपर और गगन के पार भी अगम सत्य का विस्तार है। लेकिन, यदि अपनी कुल उछल-कूद बित्ते भर की हो तो छोटा-सा आकाश भी अनन्त लगता है। दूरियों के आश्वासन पर चलने वाली सारी सम्भावनाएं शून्य में तिरोहित हो जाती हैं, काल की बैसाखी पर ठहरी गतियाँ निष्कल आकाश में डूब जाती हैं और मन की छलनाओं के बल पर ठुमकने वाली मान्यतायें गोतीत ज्ञान के मौन में विलीन हो जाती हैं। ज्योतिर्लिंग इसी महाशून्य का सत्य है। यह शून्य नितान्त अवचिल, प्रशान्त और ऊर्जा रहित नहीं होता, बल्कि इसमें अपने भीतर से संपूर्ण लोक को जन्म देने की क्षमता

निहित रहती है। इस शून्य के असीम आकाश में मोहक वृत्तों की कथाएं सोई रहती हैं। वेदान्त का शून्य, निष्क्रय, निस्तरंग या निर्वीर्य नहीं होता। शून्यता का आत्म-सम्भूति के वैभव से सब कुछ उत्पन्न कर लेना और पुनः समष्टि को अपने हिरण्यगर्भ में समाहित कर लेना लिंगत्व है। लिंग का वास्तविक आशय है, वह जिसमें सबकुछ समा जाय और यावत्-किंचित् उसी में लीन हो जाय। इसीलिए, कहा जाता है — "लीयते गम्यते यस्मिन् तल्लिंगं इत्युच्यते।"

ज्योतिर्लिंग के सम्बन्ध में एक बड़ा प्रतीकात्मक आख्यान है। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं। उन्हें सारी सृष्टि का पितामह होने का गर्व है। लेकिन, वे विष्णु के नाभि-कमल में जन्म लेते हैं, इसलिए विष्णु के मन में भी ब्रह्मा के जनक होने का अहंकार है। जहाँ अहंकार है, वहाँ संघर्ष में सदा असत्य की क्षणिक जीत होती है। ब्रह्मा और विष्णु दोनों में स्वयं को बड़ा सिद्ध करने की होड़ लग जाते हैं, जंग का बिगुल बजता है और भयावह प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धरती काँपने लगती है, सागर दहाड़ खाने लगता है और सारा आकाश उल्काओं की लपट से भर जाता है। देवता 'त्राहि-त्राहि' करते शंकर की शरण में जाते है। शंकर लिंगाकार ज्योति के रूप में दोनों के बीच खड़े हो जाते हैं। शिव का निर्देश है कि जो इस लिंग का छोर छू लेगा वही बड़ा समझा जाएगा। एक सिरे पर विष्णु चलते हैं, उन्हें ज्योति के इस अशेष सेतु का पार नहीं मिलता है। लेकिन, इसी बीच ब्रह्मा कहीं बीच से लौट कर झूठ बोलते हैं कि उन्हें दूसरे सिरे का अन्त मिल गया है। थोड़ी देर के लिए उन्हें विजयश्री मिलती है। बाद में हारे-थके विष्णु सच्ची बात कहते हैं — भगवन, इस लिङ्ग का न आदि है, न अन्त है और यदि है तो उसका पता पाना मेरी क्षमता से बाहर है। ब्रह्मा की कलई खुल जाती है। विष्णु बड़े और पूज्य मान लिए जाते है। साथ ही, ब्रह्मा अपूज्य और पराजित घोषित कर दिए जाते हैं।

वैदिक मनीषा ने आत्यन्तिक चिन्तन की चुनौती स्वीकार की थी। उसके सामने सबसे बड़ा दार्शनिक प्रश्न था — "अलिंगम् लिङ्गते कथम्?" अर्थात्, अकारण से कारण की उत्पत्ति कैसे होती है? " ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं

और कर्ता होने के नाते जगत् के पितामह ही नहीं कारण भी हैं। ब्रह्मा विष्णु की नाभि से निकलते हैं, अतः विष्णु को ब्रह्मा का कारण कहा जायगा। विष्णु का आधार सलिल-सिन्धु है। ऐसी स्थिति में, कारण का कारण और फिर उसका कारण, यह श्रृंखला अनन्त पर ही ठहरेगी। चिन्तन की थकान से मुक्ति का एकमात्र विकल्प है कि विष्णु को अनन्त शेष की गोद में सुला दिया जाय। तब, अन्तिम निष्कर्ष निकलता है कि सबका कारण अनन्त है। अनन्त अव्यक्त है, अकथनीय है, मात्रात्मक ज्ञान और बौद्धिक विवेचना से परे है। इसका एक निष्कर्ष यह भी है कि प्रत्येक कारण में किसी अकारण का अज्ञेय अंश छिपा रहता है और प्रत्येक सीमा में असीम सत्ता का अस्पष्ट हस्ताक्षर होता है। इसी अव्यक्त की उपस्थिति को क्वांटम भौतिकी में 'अनिश्चय का सिद्धान्त' कहा जाता है। सबसे बड़ी तार्किक विडम्बना यह है कि कारण में अकारण की स्थापना तो स्पष्ट रहती है, लेकिन अकारण में कारण की स्थिति भ्रामक होती है। इसी भ्रम के चलते माया को विश्व-रचना का अनिवार्य बिन्दु माना जाता है।

चूँकि, अकारण में कारण पूरी तरह अज्ञात रहता है, अतः उसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। आचार्य शंकर ने कहा था कि अल्पज्ञ और सर्वज्ञ का अन्तर माया के कारण उत्पन्न होता है। माया का अंचल छूटने पर कारण और अकारण का प्रश्न गिर जाता है और मात्र एकत्व का दर्शन शेष रह जाता है। अलिंग से लिंग की उत्पत्ति या अव्यक्त से व्यक्त की अभिव्यक्ति का सवाल तभी तक उठता है जब तक मन से माया की कुहास नहीं छँट जाती। यह समस्या केवल अध्यात्म की ही नहीं विज्ञान-दर्शन की भी है। आधुनिक भौतिकी की मान्यता है कि निर्वात शून्यता के अपरिमित विस्तार की एक नन्हीं-सी लहर सम्पूर्ण ब्रह्मांड को जन्म दे सकती है। लेकिन, किसी को यह नहीं पता कि यह लहर कैसे उठती है? वैज्ञानिक कहते हैं कि यह सब स्वतः प्रक्रिया (सेल्फ-ऐक्शन) द्वारा होता है। वैदिक ऋषि इसे ब्रह्म की लीला या 'स्वधा की सिहरन' कहता है। वस्तुतः, अकारण से कारण के उद्भव का रहस्य उत्तर चेतना की अनुभूति का विषय है। ज्योतिर्लिंग इसी रहस्य का रूपक है।

दार्शनिक सन्दर्भ में ज्योतिर्लिंग की अवधारणा सत्य और तर्क के अन्तर्द्वन्द्व की बड़ी मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करती है। द्रष्टा ऋषि तो एक सूत्र वाक्य में अपनी पैनी आलोक-दृष्टि को मन्त्र का सम्पुट देकर चुप रह जाता है और अदृश्य सत्ता का एक सारपूर्ण बिम्ब उछाल देता है। शेष कार्य सूत्रों के भाष्यकार का दायित्य बन जाता है। सत्य को तर्क में बाँधना कोई आसान काम नहीं है। सत्य अनन्त है और अनन्त को सीमा में समेटने की हर क्रिया एक वर्तुल आकार ग्रहण कर लेती है। अर्थात्, जो तर्क जहाँ से शुरू होता है, अन्त में थककर वहीं लौट आता है और सारी बात गोल-मटोल होकर रह जाती हैं। प्रकृति की किसी भी घटना के कार्य-कारण की रेखा खींची जाय तो वह एक चक्रीय रूप ले लेती है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सारा ब्रह्मांड वक्र है और इसमें प्रत्येक रेखा किसी परिधि-खण्ड जैसी होती है जो अन्ततः एक वृत्त बन जाती है। जो कुछ अद्वैत दर्शन में है वही पदार्थ-विज्ञान में भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि विज्ञान यथार्थ को सत्य मानता है, लेकिन अद्वैत सत्य को यथार्थ मानता है और मान्यता के इसी बिन्दु पर पूरी कथा बदल जाती है। विज्ञान दृश्य को पर्याप्त कहता है, अद्वैत मानता है। अदृश्य सत्य है, दृश्य आवरण है। अदृश्य कारण है और सृष्टि के समस्त विस्तार में सत्ता अदृश्य की होती है लेकिन महत्ता दृश्य की होती है। इसीलिए, ऋषियों ने अलिङ्ग से लिङ्ग के अवतरण की ललित सम्भावना को ज्योतिर्लिंग में रूपायित किया है।

ज्योतिर्लिंग की आकृति स्निग्ध प्रकाश के दीर्घवृत्त जैसी मानी गई है। इस अण्डाकार आकृति को सम्पूर्ण ब्रह्मांड का प्रतीक कहा जा सकता है। इसका आधा भाग अव्यक्त अनन्त में डूबा रहता है। इस अव्यक्त सत्ता को ब्रह्म-योनि की संज्ञा दी जाती है। विष्णु भी इसी योनि से उत्पन्न होते और स्वयं श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है — ''मम् योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।'' ज्योतिर्लिंग के अण्डाकार होने का कारण यह है कि विचारों के कोलाहल से उद्विग्न मन कभी अपने को संसार से पूरी तरह अलग करके नहीं देख सकता। किसी विराट परिवेश का नियम है कि उसके किसी एक हिस्से द्वारा उसके सम्पूर्ण परिदृश्य का अवलोकन सम्भव नहीं

है। ऐसी स्थिति में उस हिस्से के प्रेक्षक की दृष्टि एक गोल चक्कर लगाकर उसी के पास लौट आती हैं। गणित के विद्वानों की मान्यता है कि किसी बिन्दु के एक स्थान पर लौट आने की प्रक्रिया वृत्तीय होती है। साथ ही ब्रह्म के भीतर फैलाव का भाव भी भरा है। अत:, ब्रह्मांड को दीर्घवृत्त की ख्याति मिलना स्वाभाविक है। इस दीर्घवृत्त में प्राणिक संवेदना के बीज निहित रहते हैं। एक उदात्त दर्शन को सामान्य स्तर तक उतारने के लिए ज्योतिर्लिंग को अण्डाकार मानना जरूरी है। ज्योतिर्लिंग की ही नहीं खगोल विज्ञान की भी एक आकर्षक अवधारणा है।

ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ को समस्त भूत जाति का अधिपति कहा गया है — "भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्"। दूसरी ओर 'काम' को विश्व का प्राथमिक रेतस् (विश्वस्य रेत:) माना गया है। वैदिक दृष्टि से, रेतस् सृष्टि का वीर्य है, समष्टि की घनीभूत ऊर्जा है और साथ ही प्रजनन की शक्ति भी है। काम अनंग है, लेकिन अंगों में वह रेतस् के रूप में ही उतारता है। अदृश्य के बिम्ब पकड़ना, अश्रव्य की प्रतिध्वनि सुनना और परछाइयों के जंगल में प्रकाश का पुष्प चयन करना सरल नहीं है। इसीलिए, मनुष्य जीवन की मर्यादा का अर्थ भूलकर व्यर्थ का व्यामोह पालते रह जाता है। वैश्विक सत्ता की संपूर्ण ऊर्जा को मानसिक आनन्द में रूपान्तरित करने की कला मानव जाति को भारतीय प्रज्ञा की अविस्मरणीय देन है।

इसी सन्दर्भ में हिरण्यगर्भ को ज्योतिर्लिंग का प्रतिरूप भी माना जाता है। हिरण्यगर्भ देव-प्राण की विश्राम भूमि है। अग्नि के व्यक्त रूप को 'चिते-निधेय' और उसके अव्यक्त रूप को 'चित्य' की संज्ञा दी जाती है। पहला रूप सत् दूसरा असत् है। इसी प्राणाग्नि के लपट की उठान ज्योतिर्लिंग है। मूलाधार के केन्द्र पर ठहर जाने वाले व्यक्ति को इसमें स्थूल 'काम' की झलक दिखाई देती है। मान्यता है कि काल की गति-शक्ति से अग्नि का रूप प्रकट होता है। काल की प्रत्येक ईकाई को 'संवत्सर' कहते हैं। आकाश के शीर्ष से पाताल के पृष्ठ तक संवत्सर की आवर्ती गति को 'परिप्लव' कहा जाता है। संवत्सर की इस गति से ब्रह्मांड के ऊर्ध्व और अध: या पर और अपर दो हिस्से हो जाते हैं। ऊर्ध्व भाग केन्द्र को शक्ति

प्रदान करता है और अधोभाग परिधि को नियंत्रित करता है। काल की शक्ति समष्टि के प्रत्येक अवयव के केन्द्र पर कुण्डल मारकर मूर्च्छित पड़ी रहती है और जब उसकी मूर्च्छा टूटती है तब अग्नि जाग्रत होती है। केन्द्र से परिधि की ओर फैलते जाना अग्नि का स्वभाव है। इस स्वभाव का स्वामी हिरण्यमय पुरुष है जिसकी तात्त्विक उपस्थिति को हिरण्यगर्भ कहा गया है। सूर्य की सोनिल रश्मियों के गोलाकार रूप को भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है। जहाँ तक सूर्य की किरणें जाती हैं वहाँ तक हिरण्यगर्भ की परिधि खींची जाती है। जहाँ तक अग्नि या प्रकाश की गति है वहाँ तक ज्योतिर्लिंग की व्याप्ति है। ज्योतिर्लिंग परा-आकाश के प्राण तत्त्व की अभिव्यक्ति है। इसी प्राणिक ऊर्जा से सूर्य का उत्तेजन होता है। संभवतः, यही कारण है कि हिरण्यगर्भ को ज्योतिर्लिंग के रूप में अंकित किया जाता है।

वेदों में रेतस् और रजस् अर्थात्, प्राण और पदार्थ-कण को एक-दूसरे का पूरक और पर्याय दोनों माना जाता है। रजस् के भीतर जो शक्ति छिपी रहती हे उसे रेतस् संज्ञा दी गई है। इसीलिए, कहा जाता है कि प्रत्येक कण की एक जीवात्मा होती है। इस गतिज ऊर्जा से अग्नि उत्पन्न होती है। गति की ऊर्जा ही काल की सत्ता का प्रमाण है। काल प्राणिक चेतना का भी प्रतीक है। इसीलिए, तात्त्विक दृष्टि से मन और काल समानार्थी हैं। काल की प्रेरणा से प्राणों में भी प्रकाश भर जाता है। ऋषियों ने सूर्य को 'प्राणघन', अर्थात्, प्राणिक ऊर्जा का घनीभूत रूप माना है। प्राण और प्रकाश की इस संयुति को हिरण्यगर्भ का नाम दिया गया है।

किसी सत्ता का आकलन उसकी विपरीत पृष्ठभूमि में किया जाता है। प्रकाश की तीव्रता देखनी हो तो अन्धकार की सघनता का सन्दर्भ चाहिए। सागर का सौन्दर्य निरखना हो तो सूखे ऊसर का विस्तार ध्यान में रखना होता है। पतझड़ की उदासी जितनी गहरी होती है, पलाश की आग उतनी ही टहक होती है। ऐसे ही ज्योतिर्लिंग का स्वरूप देखना हो तो ब्रह्म की बृहत्-योनि का आधार जरूरी है। ब्रह्मयोनि तमस् के महागर्त्त का प्रतीक है। योनि अनन्त शून्यता की ओर संकेत करती है। इसी शून्य में सब कुछ विलीन हो जाता है। गीता में इसे महद्-ब्रह्म की योनि कहा गया है। सब कुछ वहीं से

आता है और फिर वहीं चला जाता है और जैसे नदियों के गिरने से सागर की एकरसता नहीं समाप्त होती है वैसे ही कोटि-कोटि ब्रह्मांड के निकलने या डूबने से इस महाशून्यता में कोई अन्तर नहीं आता। ब्रह्म-योनि की शून्यता निष्क्रिय या निर्वीर्य नहीं होती, बल्कि इसमें ऊर्जस्वी प्राण की सारी संभावनायें निहित रहती है। इस शून्य गर्भ में स्थित शक्ति को ज्योतिर्लिंग की आकृति दी जाती है। जहाँ कहीं नारी-पुरुष का भाव उत्पन्न होता है वहाँ अवचेतन में तत्काल योनि और लिंग का प्रतिरूप उभर आता है। प्राकृत धरातल के प्रत्येक स्तर पर ज्योतिर्लिंग का विग्रह प्रकट होता है। स्थूल चिन्तन से विराट दर्शन तक प्रकृति पुरुष के मिथुन-भाव का स्वरूप बिखरा है। मनुष्य की विडंबना है कि वह अध्यात्म की सूक्ष्मता तो भूल जाता है, बस स्थूल यथार्थ को मुट्ठी में बाँधने की आदत बनी रह जाती है। इसीलिए, ज्योतिर्लिंग की पवित्र अवधारणा को कुष्ठ-संस्कार वाले तार्किक 'शिश्न-पूजा' के स्तर तक घसीट ले आते हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे सौम्य प्रतिबिम्ब चीनी दार्शनिकों के मानस-दर्पण में उभरा है। उन्होंने सबसे पहले शिव और शक्ति को अपने जीवन-दर्शन का आधार बनाया। उनकी मान्यता है कि प्रकृति के प्रत्येक कण में नारीत्व और पुरुषत्व दानों के गुण उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा न हो तो सारी सृष्टि स्थिर, निस्तरंग और निराकार हो जाएगी। चीनी विचारकों ने समग्र विश्व में व्याप्त शान्त, विनीत और ग्रहणशील नारी-तत्त्व को 'यिन' तथा उद्धत, प्रखर और आवेगपूर्ण पुरुष-तत्त्व को 'यांग' की उपाधि दी है। शब्दों की संरचना पर थोड़ा-सा ध्यान दें तो यिन, योनि और यांग, लिंग का एक स्वर विपर्यय है। वैसे दोनों का एक ही ध्वन्यार्थ है। वैदिक शब्दावली की योनि ओर लिंग की संकल्पना ही 'यिन' और 'यांग' के रूप में पुनरुक्त हुई है। जड़ पदार्थ में विरल चेतना की सूक्ष्म सिहरन की इतनी मार्मिक समीक्षा अन्यत्र दुर्लभ है।

नारी के प्रति पुरुष का अनाम सम्मोहन, शून्य के प्रति विराट का अलिंग आकर्षण, आकाश में प्राणों की पहचानी-सी गुदगुदी, फूलों के पुंकेसर पर भौरों के विह्वल संस्पर्श की सिहरन, इन सब में और बाकी सब कुछ में

ज्योतिर्लिंग का दर्शन निहित है। गुलाब की पंखुरी वसंत की भोर में जब आकाश की ओस से गीली होती है, चन्दन-वन की सुगंधि में जब चाँदनी की मिठास घुलती है और गंगा के स्वच्छ शान्त जल में जब देवदारु के वृक्षों की छाया काँपती है तब प्रकृति के प्राणों में एक कोमल भाव की लय उठती है। ऐसी ही लय में ज्योतिर्लिंग का अर्थाभास खिलता है। यह एक ऐसी संधारणा है जो पदार्थ और प्राणिक सत्ता दोनों को एकरूपता प्रदान करती है। प्राण और पदार्थ का पहला समागम प्रकाश की पृष्ठभूमि में ही घटित होता है। प्रकाश और उसकी पृष्ठभूमि को ही योनि और लिंग का लक्षण मान लिया जाता है। यही लक्षण ज्योतिर्लिंग है।



बर बौराह बसहँ असवारा

शिव के जटा-जूट में गंगा की धवल जलधार है। मस्तक पर रजत-शीतांशु की बंकिम चन्द्रिका है। तीसरी आँख की संपुटित पलकों में समाधि की मूर्च्छना है। भुजाओं में सर्प-शावक के वलय हैं। कण्ठ में काल-कूट की नीलिमा है। भस्म-चर्चित वक्ष-प्रान्त में विषधर नाग की फूत्कार है। अधरों पर अरुण पीयूष का माधुर्य है। कटि प्रदेश में धूसर आकाश का वल्कल वस्त्र है। चित्रल बाघंबर का विष्टर है और बैल की सवारी है। ऐसे भोले शंकर के विषय में कुछ भी कहना विरोधाभास के जंगल में भटकना है। शिव के विग्रह की प्रत्येक भंगिमा एक विराट दर्शन की बीज-कौमुदी है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी भाव-योजना की ओर संकेत किया है — ''बर बौराह बसहँ असवारा''।

सत्य की कोई परिभाषा नहीं होती, सौन्दर्य की कोई संज्ञा नहीं होती और न शिवत्व का कोई विशेषण होता है। ऐसी स्थिति में सर्वनाम की शरण लेनी पड़ती है। वरना, जो शिव है, श्रेष्ठ (वर) है उसे औघड़ या पागल (बौराह) कहना अपने ही पागलपन का परिचय देना है। प्रकृति में हर क्षण कुछ आकस्मिक घटित होता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विप्लव-कोलाहल में सब कुछ इतना अस्त-व्यस्त और अकारण जैसा है कि किसी कारण की श्रृंखला खोजना कठिन लगता है। अणु से प्राण तक और पदार्थ के सूक्ष्म कणों से अनन्त आकाश तक सारा कुछ अनिश्चय के आवर्त में फँसा है। फिर भी, लगता है कि सारी तीव्र-तिर्यक् गतियों के भीतर कहीं कुछ सरल सीधा और ठहरा-सा है। बीहड़ ऊहा-पोह के पीछे सनातन की वंशी-ध्वनि गूँजती है। प्रत्येक पागलपन में सूक्ष्म तर्क की प्रतिष्ठा भी होती है। जो अदृश्य, अश्रव्य और नितांत दिव्य है उसे 'वर' तथा जो स्खलित, विश्रृंखल और चंचल है उसे 'बौराह' कहा गया है। शिव में दोनों सम्भावनाएँ एक ही साथ निवास करती हैं।

देवत्व की समीक्षा इतनी सीधी, सपाट और चौरस नहीं होती कि उसे एक शब्द दिया और छुट्टी पा ली। विराट की अभिव्यक्ति के लिए समन्वय की विधा अनिवार्य हो जाती है। शिव को वर-बौराह यानी श्रेष्ठ पागल कहने का बड़ा गूढ़ अर्थ है। जिसकी वरीयता को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती उसे बौराह कहने का अपना ही रस है। सतही दृष्टि से थोड़ा अटपट जरूर लगता है कि जिसे आस्था वन्दनीय मानती है उसे तर्क विक्षिप्त क्यों कहता है? लेकिन, बौराह का मतलब बौड़म नहीं होता है। बौराह का अर्थ है — मंजरित वसन्त का मौन, मगन भाव। जो आत्म-रमण में निपुण है, दूसरों के मंगल में प्रवीण है, समाधि-चेतना की अनन्य साधना का धनी है और जिसके मन के आकाश में कुआर की चाँदनी लहरा रही हो उसे बौराह कहा जा सकता है। जिसके ज्योति-वपुष् की शिराएँ खिली चमेली की तरह अपनी ही सुगन्धि में स्नान करती हैं, जिसके देह तन्तु में मधुऋतु की सिहरन भर गई हो और पोर-पोर में पार्वती का स्पर्श पिघल रहा हो उसके बौराह बने रहने का अलग ही आनन्द है।

वस्तुतः शिव के स्वरूप से बृहत्तर कल्पना सम्भव नहीं है। शिव के विराट् विग्रह को आँखों के एकान्त में देखें तो प्रतीत होता है कि कॉस्मिक चक्रवात में सारे समुद्र बादल की तरह उड़ रहे हैं। शिव के सम्बन्ध में श्रुतियों ने एक मर्म-संकेत दिया है — उताधीतं विनश्यति, अर्थात् जब कोई शिव के निकट जाता है तब वे अन्तर्धान हो जाते हैं और जब तक लगता है उन्हें छू लेंगे तब तक वे छू-मन्तर हो जाते हैं। जो उन्हें श्रेष्ठ मानकर चलता है उसे बौराह दिखाई देने लगते है और जो उन्हें बौराह मानकर आश्वस्त हो जाते हैं उनके लिए दिव्य मंगल की प्रतिमूर्ति बन जाते है। एक ओर विषधर सर्प और दुनिया भर का जहर, दूसरी ओर गंगा का पुण्य-ललिल और अमृत-शीतल चाँद की बाँकी चितवन। कहाँ रति के सुहाग पर आग उगलती तीसरी आँख और कहाँ पार्वती के प्यार में शान्त कपोत-सी उनींदी मदभरी दो आँखें ! बैल के ऊपर बौराह का बैठना बेजोड़ बात है। इसीलिए वेदों ने उन्हें अद्भुत देवता कहा है।

वैसे, 'वर-बौराह' निठाह देहाती शब्द नहीं है। इसमें वैदिक संस्कार

भरा है। यह वराह या वारिवाह का लम्पट-लोकायत रूप है और ये दोनों शब्द बादल के पर्याय हैं। पौराणिक मान्यता है कि वराह देव ने हिरण्याक्ष दैत्य को मारकर आदि-पंक से पृथ्वी को बाहर निकाला था। वराह की व्युत्पत्ति है — वरं आहन्ति इति वराहः। यहाँ वर का अर्थ सूर्य है। जलते सूर्य की सुनहरी किरणों के संगोलित रूप को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। तीव्र ज्वाला की तरह दहकते गोले से जीव सृष्टि संभव नहीं है। उसका पानी भरे बादलों से ढँकना जरूरी है। यही प्रक्रिया हिरण्याक्ष का संहार है। सूर्य की एक संज्ञा वृषभ भी है और द्रष्टा ऋषियों ने अग्नि को 'पानी का पुत्र' (अपां नपात्) कहा है। अतः, इसी सन्दर्भ को *ऋग्वेद* में दूसरे सिरे से पकड़ा गया है — "अति सृष्टो अपां वृषभः"। अर्थात्, जब सागर से सूरज उगा तब सृष्टि हुई। इसी अग्नि और जल के समन्वय से प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों की रचना हुई। अतः, वर बौराह का मतलब पगलेट दुलहा नहीं है। यह शब्द सृष्टि-रचना का बोधक है जिसके प्रतीक पशुपति हैं। सम्पूर्ण विश्व शिव के स्निग्ध प्रत्यय का अटूट आश्वासन है।

शिव का वृषभ कोई धामर-धूमर गोलवा बरधा नहीं है। वह कोई सीधा-सादा 'सुद्धा' साँढ़ नहीं है। ऐसी भी नहीं है कि कोई चतुर किसान गरौंधी पकड़ कर उसे हल में नाँध दे और कंधे पर जुआठ रखकर कह दे — "ना दर्रे"। वह चुपचाप मुँड़िया कर खेत जोतने वाला या किसी कोल्हू की निर्धारित परिधि में बिना बिदके चक्कर काटने वाला नहीं है। यह वह बैल नहीं है जो भाट माटी वाले खेत की जुताई में या दँवरी के दौरान भरी पुअरौट में गरियार की तरह 'धम्म' से बैठ जाय और उसकी पूँछ ऐंठ कर उठाने की नौबत आ जाय। ऐसे वृषभ पर सवार होने में शिव की महत्ता नहीं है। वस्तुतः, शिव ही नहीं उनका बैल भी बड़ा पागल है। वह आक्रामक है, उदग्र-पुच्छ है, उद्धत-उदन्त है, विकट-श्रृंग है, विस्फारित-लोचन है और *तैत्तिरीय उपनिषद्* के अनुसार 'रोहिताक्ष' सूर्य है। जब वह अपनी नमित ग्रीवा में क्रोधाग्नि की कुपित वायु का उद्दीकरण करता है तब जैसे सारा ब्रह्मांड थर-थर काँपने लगता है। इस बैल के हूँफने से हजारों नीहारिकायें बादल की तरह बिखर जाती हैं। ऐसे में सृष्टि के महा-विस्फोट की वेला

उपस्थित हो जाती हैं, व्योम का बृहत्तर संस्थान झंकृत हो जाता है, गगन-गंगा में उत्ताल तरंगें उठने लगती हैं, विशाल ताराओं के पृथुल पुंज विकीर्ण होने लगते हैं और सारे आकाश में उनचास पवन का प्रश्वास भर जाता है। इस वृषभ के क्षुर-क्षेप से वायुमंडल में कणीय सत्ता का घूर्णन आरंभ हो जाता है, इसके 'आड्ढां' की हुंकार से अन्तरिक्ष में रजस् का वात्याचक्र उभरने लगता है और वह ऐसे सींग हुरपेटता है कि आकाश का पेट फट जाता है। इस बैल के हँकड़ने से लगभग वही अवस्था उत्पन्न हो जाती है जैसी शिव के धनुष टूटने पर हुई थी — "चिक्करहिं दिग्गज डोल, अहि महि कोल कूरम कलमलै।"

वृषभ समष्टि में वीर्य-ऊर्जा की धारासार वृष्टि का प्रतीक है। इस वृष्टि के देवता इन्द्र हैं। इसलिए, इन्द्र को *कौषीतकी ब्राह्मण* में वृषभ भी कहा गया है। सृष्टि-विद्या की वैदिक संधारणा में इन्द्र से द्यौ के गर्भिणी होने की बात कही गई है — 'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'। वस्तुतः, इन्द्र की ऊर्जा कई आयामों में बिखरती है और इस सन्दर्भ में *ऋग्वेद* का बड़ा सारगर्भित संकेत है — "हे इन्द्र, तुम दिवस के प्रकाश में, पृथ्वी की गरिमा में, सागर के विस्तार में, नदियों के कल-कल स्वर में और वनस्पतियों के प्राण-पल्लव में आनन्द का संचार करते हो। तुम्हारी रेत-सिंचन की ऊर्जा के लिए सोम से मधु की बूँदें टपकती हैं। हे मधुपायी वृषभ, तुम्हारे रेतस् की वृष्टि से सारी प्रकृति ऋतुमती प्रतीत होती है —

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या, वृषा सिन्धूनां वृषभः स्त्रियानां।
वृषेण त इन्दुर्वृषभ् पीपाय स्वादूरसी मधुपेयो वरा ॥

(*ऋग्वेद*, ६, ४४, २१)

'वृष्' धातु से व्युत्पन्न वृषभ वर्षण की संभावना का स्थूल प्रतिबिंब है। जहाँ कहीं बरसने की, बूँद-बूँद बिखर कर किसी सौम्य गर्त्तिका को आशीर्ष भर देने की, अपनी ऊर्जा से किसी अपर सत्ता को गर्भित कर देने की शक्ति है, वही वृषभ शक्ति है। जिसमें ऐसी वर्षण-क्षमता हो जो आधारी पात्र की रिक्तता को संतृप्ति दे सके, वही वृषा है। जो वर्षण-क्षमता

पुरुषों में वृष है वही स्त्रियों में सोम है। पुरुष और नारी के बीच जो अग्नि-सोम की समिधा जलती है वही प्रक्रिया धरती और आकाश के बीच भी घटित होती है। आसमान पूरे नौ महीने तपकर मेघ के रूप में वर्षण-शक्ति का संचय करता है तब सोमवती धरती में रस-सिंचन द्वारा बीज के अंकुरण की संभावना साकार होती है। नारी-पुरुष के सन्दर्भ में भी ऐसा ही होता है। इसीलिए, विश्व-यज्ञ की भूमिका में नारी को वेदिका ओर पुरुष को अग्नि कहा जाता है।

इन्द्र का संबन्ध इन्द्रियों से भी है। इसीलिए, *तांडच-महाब्राह्मण* का कहना है — "दधातु इन्द्र इन्द्रियम्"। समष्टि की ऐन्द्रिक सत्ता में वृष-शक्ति का स्फुरण होता है। संस्कृत में वृष का अर्थ 'काम' भी है। मनुष्य के स्वाधिष्ठान चक्र को काम का केन्द्र कहा जाता है जहाँ जल-तत्त्व की प्रतिष्ठा मानी जाती है। रेतस् या वीर्य जल का ही संघनित सारांश है और यही रेतस् संपूर्ण सृष्टि का मूल कारण है। पानी प्रकृति का सञ्चारी भाव है। विरल वाष्प के रूप में सारे आकाश में जल फैला है। सूरज के हृदय-प्रदेश में भी पानी का उछ्वास उभरता है। मनुष्य की देह का अस्सी प्रतिशत अंश पानी है। देह की जल तरंग को 'काम' की संज्ञा दी गई है। देह में पानी की उठान को रेतस् कहा जाता है और रेतस् वीर्य में रूपान्तरित हो जाता है। *तैत्तिरीय ब्राह्मण* के अनुसार वीर्य अग्नि का रूप है — 'वीर्य वा अग्निः'। इस अग्नि का देवता भी इन्द्र है जिसे मन, प्राण या सूर्य भी कहा जाता है। इन्द्र काम का सूचक और वृषभ का पर्याय है। इसीलिए, संस्कृत-साहित्य में वृष को काम का प्रतीक माना जाता है। शिव इसी वृषभ या काम को अपने अधीन कर लेते है, और यही उनके बैल पर सवार होने का अर्थ है, क्योंकि काम पर विजय अखण्ड समाधि का अनिवार्य प्रतिबन्ध है। शिव ने अपनी योग-शक्ति से काम को भस्म कर दिया था, इसीलिए उन्हें वृषांचन या वृषभध्वज भी कहा जाता है। काम या वृषभ सारे जीवों पर सवारी कसता है। काम मनसिज है, अनंग है, पुष्प-धन्वा है, लेकिन उद्दीपन की इस सिहरन और अमर्ष के सारे शीतोष्म अनुभवों के ऊपर बड़े कौशल से शिव शान्त रस की तरह सिद्धासन जमा लेते हैं। जगत के सभी पुरुष काम के समक्ष विनत,

विवश या हतप्रभ हो जाते हैं, लेकिन कामरिपु शंकर के आगे कन्दर्प का सारा कौटिल्य ध्वस्त हो जाता है। काम-केन्द्र को संचालित करने वाले इन्द्र का वाहन ऐरावत हैं जो इरा या जल का व्यापक प्रतीक है, लेकिन इन्द्र स्वयं अग्नि के देवता हैं। अतः, तात्त्विक दृष्टि से शिव के वृषवाहन होने का अर्थ है कि उन्हें जल और अग्नि दोनों का स्वामित्व प्राप्त है। कवि कालिदास ने *कुमार-संभव* में इस दर्शन का बड़ा लालित्यपूर्ण चित्रण किया हैं —

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः, प्रभिन्न दिग्वारण वाहनो वृषा
करोति पादावुपगम्य मौलिना, विनिद्रमन्दार रजोरुणांगुलीः ।

(*कुमार-संभव*, ५, ८०)

अर्थात्, शिव संपदा विहीन हैं। उनके पास भस्म-भभूत के सिवा कोई संपत्ति नहीं है। कुल मिलाकर महज एक बैल की सवारी है। दूसरी ओर, इन्द्र हैं जो अपार समृद्धि के स्वामी हैं। उनके पास ऐरावत जैसा दिव्य प्रमत्त गजराज है। लेकिन, जब वे अपने हाथी पर सवार होकर वृषभ-वाहन शिव के सामने से गुजरते हैं तब शंकर के मन्दार पुष्प के मकरन्द से मंजुतर चरणों में मस्तक झुका लेते हैं।

संस्कृत वाङ्मय में इन्द्र की कथा अनेक रूपों में बिखरी पड़ी है। सबसे सजीव रूपक अहिल्या के आख्यान में उभरता है। अहिल्या कामान्ध रात्रि के व्यामोह की प्रतिमूर्ति है जिस पर मुग्ध होकर इन्द्र अपना विवेक खो बैठते हैं। कुमारिल भट्ट ने इन्द्रिय तेज को ही इन्द्र माना है — "समस्त तेजाः इन्द्रिय शब्द वाच्यः सवितैव"। व्युत्पत्ति के अनुसार अहिल्या का अर्थ है, अन्धकारपूर्ण रात्रि — 'अहनि लीयते इति अहिल्या'। अर्थात्, जो दिन के प्रकाश में अपनी अस्मिता विलीन कर देती है वही अहिल्या है। इस रात्रि में सूर्य के तेज इन्द्र का लीन हो जाना उतना ही स्वाभाविक है। यही रात्रि और सूर्य के संबन्ध की भूमिका इन्द्र और अहिल्या के गूढ़ सन्दर्भ में एक प्रतीकात्मक अर्थ भरती है। ऐसी स्थिति में एक विलक्षण विश्वरूप आनन्द की पृष्ठभूमि तैयार होती है। सूर्यवंशी राम के संस्पर्श से अहिल्या का शाप मुक्त होना भी जगत् के दृश्य यथार्थ को तात्त्विक सत्य का पर्याय बना देना

है। प्रकाश के सान्निध्य में हम स्वयं को सत्य के अधिक निकट पाते हैं और सत्य की अनुभूति से शब्दातीत आनन्द का उद्भव होता है। इसीलिए, शिव के वृषभ की संज्ञा स्वयं एक विशेषण है।

शिव नन्दी बैल पर बैठते हैं जो सचमुच बड़ा मनमौजी और आनन्दी है। इसके आनन्द-बिन्दु से दिगन्त नन्दित होता है। नन्दी नन्दन-वन के कल्प-वृक्ष की छाँह में विश्राम करने वाला वृषभ है। जब शिव की इच्छा होती है, वह एक जम्हाई लेकर खड़ा हो जाता है और जानता है उन्हें कहाँ जाना है? इस वृषभ के लिए दूरियों की छलना व्यर्थ है। इसके लिए प्राची के क्षितिज से प्रतीची के उपान्त तक, धुर उत्तर की पर्वतीय उपत्यका से सुदूर दक्षिण के मलय शीर्ष तक, दूर्वादल के तुहिन बिन्दु से झिल-मिल आलोक वाली आकाश-गंगा तक कहीं भी जाना दुष्कर नहीं है। वस्तुत:, नन्दी का निगमन् 'नंद' धातु से है जिसका अर्थ हर्ष या आनन्द होता है। सारी सृष्टि आनन्द के आश्वासन पर ठहरी है और आनन्द ही जीवन का अंतिम सत्य भी है। इसीलिए, *तैत्तिरीय उपनिषद्* का आप्त वचन है — "आनन्दाद्धयेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे अभिप्रयन्ति संविशन्ति वा" — अर्थात् सारे चराचर जीव आनन्द से उत्पन्न होते हैं, आनन्द की कामना से ही जीवित रहते हैं और पुन: आनन्द-लोक में ही विलीन हो जाते हैं।

वेदों में वृषभ को 'विश्वे दिवता' की ख्याति मिली है। दूसरे शब्दों में वृषभ विश्वव्यापी प्राण-सत्ता का प्रतीक है। सृष्टि की सारी रचनाओं में जो सहज रूप में अनुस्यूत है, विपुल भाव से समाहित है और निखिल समष्टि में जो विरल संवेदना की तरह सन्निविष्ट है वही वृषभ है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में आनन्द की मदिर ऊर्जा संपूर्ण ब्रह्मांड के केन्द्र में अवस्थित है जो सर्वत्र विभिन्न छवियों में, मोहक छलनाओं में और मृदुल छन्दों में निरन्तर अभिव्यक्त होती रहती है। भौतिक अर्थों में इसी आनन्द को 'काम' की संज्ञा दी जाती है। इसीलिए, शिव का वाहन आन्तरिक प्रसन्नता ओर प्राणों के मधुर प्रस्फुरण का प्रतीक है। उसे बड़े अर्थपूर्ण शब्दों में नन्दी वृषभ कहा जाता है। 'विश्वे देवता' का तात्पर्य है कि सृष्टि में देवत्व की कोई परिभाषा नहीं है जो उसकी अर्थ-परिधि से बाहर रह जाय। वृषभ इन्द्र भी है, वैश्वानर भी है। एक ओर

वह अग्नि का अधिष्ठाता है, तो दूसरी ओर पर्जन्य का पर्याय है। वह मरुत् भी है, मित्र भी है। कहीं बृहस्पति के रूप में प्राथमिक ज्योति की तरह प्रकट होता है और कहीं वरुण जैसा श्यामल सलिल के अन्ध-विस्तार में तिरोहित हो जाता है। वस्तुत:, वृषभ अखिल ब्रह्मांड का आदि-स्पन्दन है जिसे सृष्टि का अनुनादी स्वर माना गया है।

देवता संपूर्ण विश्व में व्याप्त और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त शक्ति के प्रकाशक हैं। भारतीय ऋषि उन्हें 'परोक्ष-प्रिय' मानते हैं। जो कुछ साधारण दृष्टि के पार या पीछे है उसी के मानसिक प्रत्यक्षीकरण के लिए देवकुल की कल्पना की गई है। सृष्टि के तात्त्विक रहस्य को प्रकट करने के लिए पुरातन मनीषियों ने बार-बार शब्दों की आड़ ली है और तत्त्व की आन्तरिक प्रकृति को अर्थों में बाँध लिया है। वृषभ भी ऐसा ही एक शब्द है जिसके अर्थ में प्राण और आकाश के ढेर सारे बिंब लिपटे हैं। वैदिक साहित्य में एक कथा आती है। भृम्यश्व नाम के एक ऋषि हैं। उनके पुत्र का नाम मुद्गल है। सूर्भव उनका शत्रु है जिसे पराजित करने के लिए वे जिन साधनों का उपयोग करते हैं उन्हें 'वृषभ' और 'द्रूघण' कहा गया है। ये सारी संज्ञायें अद्भुत प्रतीकात्मक गांभीर्य से भरी हैं। वस्तुत: भृम्यश्व के पुत्र भार्मश्व हैं जो पदार्थ जगत् की सूक्ष्म संरचना का संकेत देते हैं। शब्दार्थ की दृष्टि से भौतिक अणुओं की भँवर ही जिसके अश्व या प्राण हों वही भार्मश्व है — 'भृमयोऽस्य अश्वा:'। इसी भार्मश्व को मुद्गल कहा गया है। मुद्गल का अर्थ है जिसने मदन या काम को निगल लिया है — ''मुदं कामं गिलयतीति''। सूर्भव, सूर्य से उत्पन्न तत्त्वों सूर्यभव का भौतिक प्रतिरूप व्यक्त करता है जिसपर वृषभ की ऊर्जा द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। प्रकारान्तर से ध्वनित होता है कि सूक्ष्म कणों के कंपन से प्रकाश उत्पन्न होता है और इसी प्रकाश की शक्ति को वृषभ कहा जाता है। ज्ञातव्य है कि यह संधारणा आधुनिक विज्ञान से पूरी तरह मेल खाती है। 'द्रुघण' शब्द भी कम सारगर्भित नहीं है। इसे 'द्रुममय घण' या सृष्टि-वृक्ष की सघनता के रूप में समझा जा सकता है। द्रुघण ओषधियों में समाहित सोम-रस की सान्द्र अवस्था का द्योतक है। मनुष्य की प्राणिक ऊर्जा में इसी प्रकाश या तेज और ओज के सन्तुलन से,

अग्नि और सोम के सम्यक् नियमन से तथा शान्ति और उत्साह के समन्वय से उस 'वर बौराह' के दर्शन होते है जिसे शिव कहा जाता है।

वृषभ 'गौ-विद्या' का बड़ा मार्मिक शब्द है। व्यापक सन्दर्भ में सारी सृष्टि में चेतना की अन्तर्व्याप्ति और प्रकाश के विकीर्णन की प्रक्रिया को 'गौ' कहा जाता है। गौ न केवल भौतिक ज्योति का बल्कि प्राणों की आंतरिक दीप्ति का भी द्योतक है। लेकिन, विशेष अर्थ में गौ पृथ्वी की एक संज्ञा है। समग्र ब्रह्मांड या पृथ्वी को अपनी वीर्य शक्ति से अभिसिंचित करने वाले तत्त्व को वृषभ का नाम दिया गया है। गौ स्त्री है, वृषभ पुरुष है। गौ सोम है, वृषभ अग्नि है। इसी अग्नि और सोम की पारस्परिक अभिक्रिया से विश्व की सारी संभावनायें अंकुरित होती हैं। *ऋग्वेद* में गौ को 'विश्वजुवम्' और 'विश्व-रूपाम्' नाम से अभिहित किया गया है जिनका अर्थ क्रमश: विश्वव्यापी गति और समष्टि की रूप रचना है। प्रकृति की ऊर्ध्वमुखी सत्ता की संज्ञा गौ है। इसी गौ या किरणों के संबन्ध में कहा गया है — ''इमा या गाव: स जनास इन्द्र:''। इन्द्र या अग्नि अपने भौतिक रूप में गौ के पुत्र हैं। गौ अदिति है और ऐन्द्रिक चेतना का प्रतीक भी है। शिव इसी इन्द्रियजन्य सुखों और चाक्षुष रूप-सौन्दर्य के नियामक देवता हैं। गौ पार्थिव लालित्य की, ऋत सत्य और आनन्द की एवं ज्योति के रसमय सारांश की व्यंजना है और वृषभ इसी गौ की आन्तरिक प्रेरणा को समृद्ध करने वाली शक्ति की संज्ञा है। वृषभ गो-पति है। अनादि ब्रह्म की जो सत्ता भौतिक रूप में प्रकट होती है वैदिक चिन्तन-धारा में उसे गौ कहा जाता है। दृश्य ब्रह्मांड गमनशील है, अत: *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार संपूर्ण विश्व गौ है — ''इमें वै लौका: गौ, यद्धि किंच गच्छतीस्तल्लोका:''। अत:, स्पष्ट है कि वृषभ समष्टि का नियामक तत्त्व है और शिव ऐसे ही वृषभ के अधिपति है।

वैदिक संधारणा में 'पशुवाद' की बड़ी महत्ता है। पशु शब्द की व्युत्पत्ति एक अनोखा अर्थ प्रकट करती है। वैदिक मनीषा तो मनुष्य ही नहीं देवताओं को भी पशु ही मानती है। निरुक्ति के अनुसार जो देखता है, द्रष्टा है, प्रतिभा सम्पन्न है और ऊँची कल्पनाओं में उड़ता है वही पशु है — 'पश्यतीति पशु:।' तत्त्व की सात्विक दृष्टि और उसके विकास की प्रक्रिया को समझने

या कल्पित करने की विधा ही पुष्पन् या पशु कहलाती है। इसीलिए *शतपथ ब्राह्मण* की परिभाषा है — 'यदपश्यत् तस्मादेते पशवः'। ऋषि ने अपने प्रज्ञा-चक्षु से जैसा देखा उसकी उसी रूप में कल्पना पशुवाद की आधारशिला है। वैदिक शब्दावली में अज, अश्व, सरमा गौ और वृषभ आदि साधारण पशुओं के रूप में भारतीय संस्कृति के जीवन-मूल्यों को बड़े कौशल से रूपायित किया गया है। अणु से महत् तक के तत्त्वों की व्याख्या विभिन्न पशुओं के प्रतीक के रूप में की गई है। भौतिक जगत् और आध्यात्मिक परिवेश की गूढ़ मीमांसा के लिए वृषभ से अधिक सारगर्भित शब्द खोज पाना कठिन है। लोक धरातल पर सहज, सुबोध शब्दों में प्रकृति की अन्तर्धारा को विभिन्न पशुओं की संरचना और उनके व्यत्पत्तिमूलक अर्थ द्वारा विश्व-दर्शन की योजना ऋषियों की तलस्पर्शी प्रज्ञा का एक अद्भुत उदाहरण है।

पशुवाद का सिद्धान्त अपनी सीमा में सारी जैविक-संरचना को समेट लेता है। ध्यातव्य है कि वैदिक परिप्रेक्ष्य में पंछी को भी पशु की ही श्रेणी में गिना जाता है। वेदों में प्रत्येक देवता का अपना पशु (या, पक्षी) होता है जिसे उसका वाहन समझा जाता है। विष्णु का पशु गरुड़ (सुपर्ण) है। सरस्वती का पशु हंस है। लक्ष्मी का पशु उलूक है। दुर्गा का पशु सिंह है। इन्द्र का पशु ऐरावत है। गणेश का पशु मूषक है। कार्त्तिकेय की सवारी मयूर है और रुद्र का वाहन वृषभ है। इन पशुओं का नाम किसी-न-किसी गूढ़ दार्शनिक परिकल्पना के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे — सृष्टि के रसमय तत्त्व को रासभ (रसद् इति रासभोऽभवति), सर्वत्र व्याप्त तत्त्व को अज (कपाले लिप्तो रस आसीद सोऽजो भवति) और रक्षणशील तत्त्व को मेष या अवि अविरितीयं) कहा गया है। शेष सारे पशुओं की भी बड़ी रसात्मक व्याख्या है जिनसे संपूर्ण ब्रह्मांड के प्रतीकात्मक रहस्य की रूप-रचना का रुचिर अर्थ उभरता है। प्रकारान्तर से, पशुवाद द्रष्टा ऋषियों द्वारा ब्रह्मांड के विविध रूपों की कल्पना का यथार्थ चित्रण है। मानसिक बिंबों का इतना विरल संयोजन अन्यत्र दुर्लभ है। पशुवाद के आधार पर न केवल विश्व की प्रकृति, आकृति और उसके विकास की प्रक्रिया की वैज्ञानिक

व्याख्या की जा सकती है, बल्कि प्राणों की गति, रति और भाव-संचार को भी समझा जा सकता है। इस आलोक में, पशुवाद अध्यात्म विद्या का एक अंग माना जाता है।

वैदिक विश्व दर्शन में, छान्दस पशुओं की कल्पना की गई है। छन्दों के प्राय: चरण होते हैं। इसीलिए, सृष्टि के छन्द-विधान के सन्दर्भ में कॉस्मिक ऊर्जा की लयात्मक गतियों को पशु की संज्ञा दी गई है। जिस छन्द में जितने पाद या चरण होते हैं, उन्हें उतने ही पाद का पशु माना गया है। वृषभ गायत्री के तीन पादों का परिचायक है, अत: उसे 'गायत्री पशु' भी कहा जाता है जैसा कि *ऋग्वेद* के ''चत्वारिश्रृंगास्त्रयो अस्य पादा:'' से स्पष्ट है। वस्तुत:, वृषभ के त्रिपाद-पशु होने का संकेत है कि वह भू: भुव: और स्व: तीनों लोकों में व्याप्त तत्त्व है। धरती के रज में, अन्तरिक्ष के ज्योति-कणों में और आकाश की दिव्य आभा में उसी की रोम-कान्ति झलकती है। माटी की कठोरता में, पवन की प्राणशीलता में और द्युलोक की विरल दीप्ति में वृषभ की ही ऊर्जा छलकती है। देह की बलवत्ता में, प्राणिक आयाम की सत्ता में और मन की पावन प्रभविष्णुता में वृषभ की ही महिमा व्याप्त रहती है जिसके ऊपर शिव के संकल्प की विधायक शक्ति निवास करती है।

वैदिक मान्यता के अनुसार सृष्टि का आरंभ वृष राशि से होता है। अत:, सूपूर्ण विश्व को वृषा या वृषभ कहा जाता है। यही वृषभ जब सिंह राशि में पहुँचता है तब आकाश में घनघोर गर्जना होती है और इसी को 'बैल' का गरजना (वृषभो रौरवीति) कहा जाता है। वैसे, साधारण रूप में सिंह की गर्जना होती है, बैल तो केवल हँकड़ता है। संवत्सर विद्या के अनुसार वृषभ का स्थान वर्षा-ऋतु में पड़ता है। इसीलिए, इसे वर्षण या पर्जन्य भी कहा जाता है। पर्जन्य प्राण-रचना की ऋतु है और यही धरती के वीर्य-ग्रहण या बीज-वपन का काल है। वृषभ जब ऋतुओं के संदर्भ में क्रियाशील होता है तब उसे ऋषभ की संज्ञा दी जाती है। ऋषभ में ऋषि या प्राण की सारी संभावनायें अन्तर्निहित रहती हैं। वस्तुत: ऋषभ प्राण-रश्मि का रचयिता है। आकाश के शून्य क्षेत्र में, नक्षत्र मंडल के आलोक विस्तार

में और धरती के खेतों में जहाँ कही प्राण-बीज के वपन या ऊर्जा-बिन्दु के सिंचन की प्रक्रिया घटित होती है वहीं शिव का वृषभ रूप परिलक्षित होता है। संसार में जहाँ कहीं कुछ जन्म लेता है, सम्यक् विकास की सरणि पार करता है या दुर्निवार क्षरण का विषय बनता है वहाँ वृषभ तत्त्व एक अनिवार्य उत्प्रेरण का कार्य करता है। वस्तुतः, वृषभ सृष्टि की सार्वत्रिक पृष्ठभूमि है।

इसी सार्वत्रिक आनन्द की कामना जीवों के भीतर प्राणों की उत्कंठा बनकर 'काम' के रूप में उभरती है। इतना सभी जानते हैं कि जितना कुछ सृष्टि में जीवन्त बिखरा है सब अनंग की सूक्ष्म ऊर्जा का ही लाक्षणिक परिणाम है। वृषभ इसी उन्मद 'काम' का प्रतीक है। इन्द्र वृषा है, इन्द्रियाँ वृषभ हैं, मेघ वृष है, सूर्य भी वृषभ है और सिन्धु के जल से ज्योति-कमल तक सभी वृषभ हैं। वस्तुतः, वृषभ-तत्त्व सृष्टि के वैदिक सिद्धान्त की रीढ़ अवधारणा है। शिव के बैल पर सवार होने का तात्पर्य है कि वे विराट ब्रह्मांड की सारी विधाओं में सहज भाव से शान्त बिन्दु की तरह व्याप्त रहते हैं। शिव सृष्टि की मंगलमयी संभावनाओं के मूल स्रोत हैं। सूरज की किरणें बादलों में गुदगुदी भरती हैं, बादल सेमल के फाहे जैसा फफन जाते हैं, पिघल कर पानी बन जाते है और रिमझिम वर्षा से धरती सराबोर हो जाती है। आकाश में अन्तरण की प्रक्रिया आरंभ होती है और पृथ्वी के गर्भ में अन्न के अंकुरण का कारण बन जाती है। संपूर्ण विश्व ऐसी ही दूरागत प्रक्रियाओं के अन्तर्सबन्धों का महाजाल है। इस जटिल पाश से जीव को मुक्त करने वाले एक मात्र देवता पशुपति है। शिव ब्रह्मांड के विराट दिक्-मंडल की मूर्द्धा में, वैश्विक चेतना के नाद-बिन्दु में, इन्द्रियों की रसमयी उठान में भीषण सूर्य की अग्नि-झंझा में और आषाढ़ की पुष्कल मेघ-राशि में निरन्तर संपूर्ण शान्ति और अगाध करुणा का बीज बोते चलते हैं।

जो सारी सृष्टि के कलह-कोलाहल में, उद्धत प्रकृति के विप्लव-विध्वंस में और अंबर के घटाटोप आडंबर में शान्त, सहज और निरासक्त बना रहे उसे भोला, पागल, बौड़म, बौराह कुछ भी कहा जा सकता है। सारी

सृष्टि आग और पानी की प्रेम-कहानी है, अग्नि-सोम के समागम की लीला है, शांति और आवेश की प्रीति-कथा है। सागर में जो सूरज छिपा है, जल में जो अग्नि-बीज निहित है और स्वाधिष्ठान पर जो 'काम' की ऊर्जा है वही वृषभ या बैल है। वैदिक अवधारणा है कि यही बैल जब हूँफता-हँकड़ता है तब विश्व की रचना होती है। शिव काम ऊर्जा के अधिपति हैं, स्वाधिष्ठान के स्वयंभू हैं, सृष्टि-रचना के स्वामी हैं। इसी गोपन रहस्य की सरल सारस्वत अभिव्यक्ति है — "बर-बौराह बसहँ असवारा"।



शिव का विष-पान

शिव समष्टि के महामंगल की प्रतिमूर्ति हैं, शान्त रस की वासन्ती व्यंजना हैं, विह्वल आनन्द की जीवन्त प्रतिमा हैं, लेकिन उनकी अपनी गृहस्थी बड़ी लटपट है। घर की माली हालत बेहद नाज़ुक है। एक ओर अंबर की उदारता है, दूसरी ओर बंजर की उदासी है। मस्तक पर प्रसन्न चन्द्रिका की छाँव है, मन में औघड़ अवधूत का बनजारा भाव है। जटाओं में उफनती प्रज्ञा की वरदा नदी है, पाँवों से लिपटी त्रिलोक की त्रासदी है। शिव किसी जटिल प्रश्न के सरल उत्तर की तरह मुग्ध प्रशान्त दीखते हैं। पहाड़ पर रहना है और एक बैल की खेती करनी है। उनके पास हल नहीं है, केवल हलचल है। कुल मिलाकर, एक बूढ़ा मनमौजी बैल है और वह भी पार्वती के वाहन सिंह को देखकर बिदक जाता है, अक्सर दूर-दूर भागा फिरता है। शिव के सामने भयंकर ऊहापोह की स्थिति है।

शिव के दो पुत्र हैं। कहने के लिए संतुलित नियोजित परिवार है, लेकिन संकट की पराकाष्ठा विकट है। पहले को एकदन्त हाथी की आकृति मिली है, पोखरे जैसा पेट मिला है और लम्बोदर की संज्ञा मिली है। दूसरे को छः मुँह मिले हैं, दीप्त कृत्तिकाओं का सर्वग्रासी तेज मिला है और देवसेना का साहचर्य मिला है। एक विडंबना यह भी है कि शिव स्वयं पंचमुख हैं। मात्र पत्नी पार्वती हैं जो स्वयं तो अपर्णा हैं, लेकिन दूसरों के लिए साक्षात् अन्नपूर्णा हैं। फिर भी, उनके परिवार में भीषण आन्तरिक कलह है। कुल चार प्राणियों के बीच विषम प्राणायाम की स्थिति है। सबकी अपनी-अपनी सवारी है और इन सवारियों के बीच तिर्यक् व्यतिरेक का संत्रास है। मयूर पर सवार कार्त्तिकेय जब शिव के पास आते हैं तब उनके गले में लिपटे सर्प भयभीत होकर भागने लगते हैं और जब किसी समय मूषिक-वाहन गणेश निकट आते है तब वही सर्प अपने प्रिय खाद्य चूहे पर झपट पड़ते हैं। मोद और मंगल के देवता गणेश की व्यथा तब बढ़ जाती है जब वे माँ पार्वती के

समक्ष उपस्थित होते हैं। पार्वती का सिंह गणेश को ही हाथी समझकर उनपर टूट पड़ना चाहता है। यही नहीं, शिव के कपाल का अनल उनके शिर के सुधांशु को भस्म कर देना चाहता है। शिव की आत्म-सत्ता का ऐसा तात्त्विक विक्षोभ बड़ा दैन्यपूर्ण है। निष्पाप भोलेपन के भाव-पुरुष शंकर का भयावह गृह-कलह किसी भद्र परिवेश के भूकंप से कम नहीं है। संस्कृत के कवियों ने तो इसे एक हास्य-रूपक बना लिया है। उनका कहना है कि पारिवारिक प्रकोप के खदिर-स्वाद से खिन्न होकर शिव विष का पान करते हैं — "निर्विण्ण: स पपौ कुटुम्ब कलहात् ईशोऽपि हालाहलम् ।"

जीवन में चाहे अनचाहे सबको विष पीना पड़ता है — कभी जानबूझ कर, कभी अनजाने और कभी विस्मृति के छल से। जहर पीने के नतीजे भी अज़ीब होते हैं। कभी दैहिक शिराओं का जंगल झुलस जाता है और प्राणों के पंछी अदृश्य दिशा में उड़ जाते हैं। कभी मानसिक सत्ता का सन्तुलन खो जाता है और मन में दारुण विक्षोभ की लहरें उठने लगती है। लेकिन, अचानक कभी ऐसा भी होता है कि चित्त का कल्मष भस्म हो जाता है, हृदय में आनन्द का संगीत फूट उठता है और चेतना की सनातनी शाखाओं में कोमल अनुभूति के नवल कोंपलों की मीठी थिरकन भर जाती है। जीवन रहस्यमय है। इस के संबन्ध में अन्तिम रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी संवेदना न कटु है, न मधुर है, सब कुछ केवल जीने वाले पर निर्भर होता है। विष का स्वाद भी इसे पीने वाले की शैली और संधारणा का विषय है।

जाहिर है, सबका जहर पीना एक जैसा नहीं होता। सबका विष-पान महत्वपूर्ण भी नहीं होता। कारण है कि कोई भी क्रिया जबतक शील की सहचरी बनकर लोकमंगल की प्रतिष्ठा नहीं पा लेती तब तक वह उदात्त के धरातल का स्पर्श नहीं कर सकती। जंगल जाकर सभी धूनी रमा सकते हैं, लेकिन राम के प्रसन्न वन-गमन की गरिमा ही कुछ और है। किसी घुरहू-कतवारू के घर कोई भी साग-भाजी का भोजन कर सकता है, लेकिन कृष्ण का विदुर के घर साग खाना भोग की मर्यादा का आदर्श-बिन्दु है। छल-कपट और प्रेम-पीड़ा का विष सारे लोग प्रकारान्तर से पीते हैं लेकिन विष

के प्याले को मीरा जैसा पीना सबके वश की बात नहीं है। वे जहर राणा का पीती हैं, सराबोर साँवरे के रंग में होती हैं और विष को रास के रस में रूपान्तरित कर लेती है। शिव के विष-पान की महिमा, सीधी भाषा में, शब्दातीत है। सबसे विचित्र तो तब लगता है जब उनके कंठ तक जाते ही विष की मीमांसा बदल जाती है, वह अमृत का पर्याय बन जाता है और उसे पीकर शिव समाधि के सात्त्विक उल्लास में विभोर हो जाते हैं।

शिव की विष-पान की कथा छोटी-सी है, लेकिन उसका क्षेपक बड़ा गहरा है। समुद्र का मंथन होता है। तृष्णा और प्रलोभन की ढेर-सारी अनिवार्य आकर्षण की मणियाँ बाहर निकलती हैं — मदिरा, अप्सरा, रत्न, वाहन आदि। तब तो सुर-असुर सभी शोर मचाते हैं — इधर लाओ, इधर दो । वैसे, यह बाद की बात है, लेकिन सबसे पहले एक मुआ विष बाहर आता है जो पूर्व-प्रतिबन्ध के अनुसार दुर्भाग्य से देवताओं के हिस्से पड़ता है। यह कोई साधारण विष नहीं है, उद्दाम प्रलय का प्रतिरूप है और इसे पीना तो दूर झेल पाना दूभर है। इस विष से आग की गगनचुंबी-लपटें फैल रही हैं। धरती की हरित वनस्पतियाँ झुलस रही हैं। सागर में वाडव अग्नि की झंझा उठ रही है। पवन में पावक का प्रकोप धधक रहा है। अन्तरिक्ष विद्युत्-कटाक्ष से काँप रहा है, द्यौ में ग्रीष्म की ऊष्मा व्याप्त है, नक्षत्रों के शतशः स्फुल्लिंग बिखर रहे हैं, सुदूर नीहारिकाओं में न्यूक्लीय विस्फोट का घटाटोप है और परागांगेय लोक में अग्नि-चूर्ण की चिनगारियाँ छिटक रही हैं। भयाक्रान्त देव-कुल में त्राहि-त्राहि की पुकार उठने लगती है। देवता जानते हैं कि भय का रेचन चाटुकारिता से होता है। सृष्टि की ऐसी प्रलयंकरी अवस्था में उन्हें शंकर का स्मरण करना पड़ता है। उनके मुख से आर्त्त-स्वर में स्तुतियों की धारासार शब्दावली निःसृत होती है — "भगवन्, आप महान हैं, महद् देवता हैं, 'मदामदम् देव' हैं, समग्र देव-सरणि के दैवत्य-पुंज हैं, 'देवानाम् दैवतम्' हैं और आप के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। आपके सिवा इस हालाहल गरल का पान और कौन कर सकता है? वैसे भी, आप श्रेष्ठतम देवता हैं, अग्रज हैं, अतः, अग्र-पूजा के अधिकारी हैं। समुद्र से सबसे पहले जो घोर विष निकला है उसे पीने में आप ही सक्षम हैं" — "अग्र-पूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो।"

शिव पूरे भोले बाबा हैं। अपनी 'बड़वरगी' में बहक जाते हैं। थोड़ी-सी चाटु-शैली से इतने 'चुरुग' जाते हैं कि अपनी चिन्ता ही भूल जाते हैं। बस भाव रहे तो भोथर प्रशंसा से भी विभोर हो जाते हैं। लेकिन, शिव को श्रुतियाँ 'तत्त्व-दीप' कहती हैं। सारा ब्रह्मांड शिव का विग्रह है। उन्हीं का अक्षांश है, उन्हीं के अक्षर हैं। उन्हीं के शब्द हैं, उन्हीं का संस्तवन है। उन्हीं की संज्ञा है, उन्हीं के संवत्सर हैं। उन्हीं की कृतियाँ हैं, उन्हीं के क्रिया-विशेषण हैं। उन्हीं का आयाम है, उन्हीं के सर्वनाम हैं। यानी, जहाँ तक जो कुछ है शिव का ही सर्वस्व है। नील आकाश उन्हीं का है, दिव्य प्रकाश भी उन्हीं का है। हिमगिरि का वल्कल उन्हीं का है, गंगा का कल-कल भी उन्हीं का है। निर्मल मान-सरोवर की सतह उन्हीं की है, नुकीले पत्थर फेंकने से उत्पन्न लहरें भी उन्हीं की हैं। पवन का सर्प-उछ्वास उन्हीं का है और अमरता का विश्वास भी उन्हीं का है। गरल की ज्वाला उन्हीं की है, अमृत की धार भी उन्हीं की है। सृष्टि का संपूर्ण व्यापार शिवमय है। जब शंकर के निवेदन में विपन्न देवताओं के हजारों हाथ जुड़ जाते हैं तब भूतभावन का कृपा से भर जाना स्वाभाविक है। शिव विष-पान करते हैं और कजरी-वन के निभृत एकान्त में समाधि-भाव से शान्त रस की प्रत्यक्ष मूर्ति की तरह बैठ जाते है — "हालाहलं विषं घोरं संजग्रहामृतोपमम्"।

समुद्र-मंथन आदि-सृष्टि की बड़ी ही सारगर्भित व्यंजना है। विश्व-रचना से पूर्व आकाश के अंतहीन विस्तार में केवल पानी ही पानी था। वस्तुतः, यह प्राण-सत्ता के सागर का जल था। *शतपथ ब्राह्मण* का कथन है — "आपो ह वा इदमग्रे सलिलं एव आस"। सलिल, आपः, समुद्र आदि भारतीय सृष्टि-विद्या के तकनीकी शब्द हैं। अकल चेतना की सूक्ष्म सिहरन सलिल है और विराट विश्व के आणविक अन्तराल में व्याप्त नीरव-निस्पन्द ऊर्जा आपः है। इसी अगाध स्तब्ध सलिल को वेदों में 'बृहती आपः' या समुद्र कहा गया है। विरल आकाश की सूक्ष्म उत्तेजना सलिल है और जो सारी सृष्टि के तन्तु-रन्ध्र में आप्त-व्याप्त है वही आपः है। जैमिनि के अनुसार 'पुरुष' स्वयं समुद्र है — 'पुरुषो वै समुद्रः'। पुरुष उस चेतना का पर्याय है जो समस्त प्रकृति की विपुल क्रियाओं में प्रवृत्त रहती है। दूसरी ओर *शतपथ*

के ऋषि का कहना है — ''पुरुषौ वै रुद्रः''। अतः, एकान्तर संबन्ध के तर्क से रुद्र (शिव) और समुद्र में तात्त्विक साम्यता मानी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि शिव-तत्त्व के आंतरिक स्फुरण को ही समुद्र-मंथन के रूप में व्यक्त किया जाता है। इस कथानक को वेदों में सोम-विद्या की सरणि में रखा गया है जिसे अक्षर-विद्या या अमृत-विद्या भी कहा जाता है। प्राणों की इस रसमयी विधा का रहस्य एक स्वतंत्र विषय है।

ब्रह्म की योग-शक्ति द्वारा इस समुद्र में विक्षोभ उत्पन्न होता है। यह किसी साधारण जल वाले दृश्य सागर के मंथन की बात नहीं है, अन्तरिक्ष के उस पार की अक्षर-सत्ता के क्षरण की कथा है। जब विराट पुरुष का साम्य शिथिल होता है तब समष्टि में परा सत्ता की व्याप्ति का विप्लव आरंभ हो जाता है। सारी भूत-संस्था में गुण-वैषम्य का ज्वार उठने लगता है, काल का कर्कश कोलाहल गूँजने लगता है और आकाश का महार्णव संक्षुब्ध हो जाता है। *शिव-पुराण* की मान्यता है कि इस आकाशीय विक्षोभ के कारण सबसे पहले 'नाद' उत्पन्न होता है — ''आदौ नादः समुद्‌बभौ''। पदार्थ जगत् के सन्दर्भ में आधुनिक विज्ञान इसे महा-विस्फोट (बिग-बैंग) के रूप में ग्रहण करता है। *हरिवंश पुराण* में 'नभ-मंथन' की यह प्रक्रिया आगे खिंचती चली जाती है। नाद-बिन्दु टूटता है, शब्द बिखरते हैं और शब्द की ऊर्जा जब शून्य में विलीन होती है तब गति उत्पन्न होती है। गगन की झंकृति समीरण के रूप में उभरती है। पवन पानी बन जाता हे और पानी के विखंडन से आग प्रकट होती है, क्योंकि वह जल के परमाणुओं के भीतर छिपी रहती है। इसीलिए, वेदों में अग्नि को पानी का पुत्र (अपां वत्सः) कहा गया है। संसार में सबकुछ इसी आग और पानी की आँख-मिचौनी है। वैसे भी, उद्‌जन और ऑक्सीजन के आनुपातिक संबन्धों की छटा सारी जैव-अजैव सत्ता में फैली है। मोहक विश्व के समस्त अन्तर-आकाश में अनन्त पुरुष का स्पन्दन व्याप्त रहता है।

समुद्र-मंथन से गुण-साम्य की स्थिति विक्षुब्ध होती है और दिगन्त-व्यापी तनुल तत्त्व की समता स्खलित हो जाती है। सारे विश्व में विषमता व्याप्त हो जाती है। समत्व अमृत है, वैषम्य विष है। विषमता के विष से प्राण

काँप जाते है। अन्योन्य गति के व्यतिरेक से अन्तरिक्ष में विकृति का धुआँ भर जाता है। संपूर्ण भाव-लोक में विषाक्त तरंगें कुलाँच भरने लगती हैं। श्रद्धा और सामंजस्य का मानसरोवर मटमैला हो जाता है। विवेक की वैष्णवी पुण्यता पंकिल हो जाती है। अस्तित्त्व के अच्छाय-वृक्ष के किसलय काले पड़ जाते हैं। रेत और घृत की मर्यादा धूमिल प्रतीत होती है। संयम और नियम के सारे अनुबन्ध टूट जाते है। बृहत्तर लोक के इस आकस्मिक संतुलन के क्षणों में परमाणु की नाभि से नभ की परिधि तक एक आग-सी लग जाती है। सारी देव-सृष्टि जैसे ज्वालामुखी के दारुण कगार पर खड़ी हो जाती है। ज्योत्स्नाजीवी अमृत-बन्धु आकुल चीत्कार करने लगते हैं — ''शिव शंकर देशिक में शरणम्।'' जब आस्थाओं के कोमल तंतु संशय और संत्रास की आँच में जलने लगे तो अटल विश्वास के अधिपति शंकर की शरण लेनी ही पड़ती है।

जहाँ वैमनस्य है, विप्लव है, विध्वंस है, वहाँ देवता दु:खी हो जाते हैं। जब सबके मन में प्रवाहित होने वाली शांति, समत्त्व और संतोष की पीयूष-धारा अंधी आकांक्षाओं के धूसर मरुस्थल में सूख जाती है, तब देवकुल व्याकुल हो जाता है। जब वाणी में केवल कर्कश स्पर्श का घर्षण शेष रह जाता है तब देवगण विक्षिप्त हो उठते हैं। जब हृदय में अनन्त प्रीति की बाँसुरी नहीं बजती और परिवेश में असाध्य वैषम्य का जहर फैल जाता है तब देवता जलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में आसुरी शक्तियाँ समृद्ध हो जाती हैं। और, जहाँ देवत्व जलता है वहाँ विनय-स्नेह का समास टूट जाता है, आत्मा और देह के सन्धि-पर्व की समीक्षा संदिग्ध हो जाती है एवं प्राण और प्रणव का सामरस्य विरस हो जाता है। विडंबना इस सीमा तक बढ़ जाती है कि जीव अपनी ही स्वंयभू सत्ता से परिचय खो बैठता है।

सृष्टि के ऐसे ही संक्रान्ति-काल में शंकर विष-पान करते हैं। विष पीकर मरना स्वाभाविक लगता है, जीना और जागते रहना कठिन है। लेकिन, विष पीकर अमर हो जाना एक असाधारण घटना है जो सामान्य रासायनिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में संभव नहीं लगती। फिर भी, योग-विज्ञान की दृष्टि से यह असंभव नहीं है। शास्त्रीय शब्दावली में इस राम-

रसायन को साम-विद्या का कौशल कहा जा सकता है। जीवन के सारे कटुता-कलह के बीच आंतरिक सद्भाव की एक गुप्त सरस्वती बहती है। विराट जगत् के कर्ण-भेदी कोलाहल के भीतर छन्दस्वती वाक् की एक ध्वनि गूँजती है और सारे दुःख दैन्य के अन्तर में विपुल आनन्द की सिहरन निवास करती है। संपूर्ण प्रकृति की गर्भ-गुहा में निहित अशेष रस की प्राणिक तरंग को 'सोम' कहा जाता है। शिव का विष-पान इसी सोम-तत्त्व की ओर एक गूढ़ संकेत है।

सबसे बड़ी बात है कि शिव विषम गरल का पान करते हैं और इसे तत्काल अमृत में रूपान्तरित कर देते हैं। संस्कृत साहित्य में विष और अमृत जल के ही दो नाम हैं। जल जीवन या प्राण का पर्याय है जिसमें अग्नि और सोम दोनों संतुलित रूप से समाहित रहते हैं। अग्नि और सोम का समतरंगीय संयोग ही जीवन है। इसीलिए, कहा जाता है — ''अग्नि षोमात्मकं जगत्''। पृथ्वी के बृहत्तर पटल की आकाशीय परिमा में सूर्य को अग्नि और चन्द्रमा को सोम का प्रतीक माना जाता है। अग्नि-तत्त्व का विस्फोट विष की व्याप्ति है और सोम-तत्त्व का प्राधान्य अमृत की उपलब्धि है। पिंड और ब्रह्मांड की उपमा पुरानी है, पौराणिक भी है। मनुष्य का शरीर विराट सृष्टि का लघु संस्करण है। व्योम के विपुल विस्तार में जैसी परिस्थितियाँ घटित होती हैं उनकी एक प्रतिच्छवि अपनी प्राण शिराओं में भी झलकती है, छायालोक में ज्योति रचनाओं के जैसे बिंब उभरते है उनका एक प्रच्छन्न आभास मनुष्य के मनःकोश पर भी अंकित होता है और महत् आकाश में जैसा वाक्-स्फोट होता है उसकी एक विरल प्रतिध्वनि जैविक धरातल पर भी गूँजती रहती है। *ऐतरेय उपनिषद्* में स्वाधिष्ठान चक्र को जल का आवास माना गया है — ''आपः रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशन्''। रेत या वीर्य जल की सान्द्र अवस्था है। जब तक देव-सत्ता आसुरी वृत्तियों से पराभूत रहती है तब तक देह-प्राण में रेत विष के रूप में फैला रहता है और इन्द्रियों की तन्मात्रा दुःसह आँच में झुलसती रहती है। इन्द्रियों की नियामक शक्ति को ही देवताओं के रूप में अभिहित किया जाता है। इसी सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है — ''जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।''

योग-साधना की दृष्टि से स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर उठने वाली इड़ा और पिंगला की प्राण-धारायें जब कंठ-प्रदेश में स्थित विशुद्धि चक्र तक आती हैं तब वे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने लगती हैं। सुषुम्ना समत्व की अन्तःसलिला है जिसमें अमृत की लहरें उठती है। प्राणों के इस ऊर्ध्व-गमन की स्थिति में वही रेत अमृत में परिणत होकर इन्द्रियों की सात्त्विक ऊर्जा को समृद्ध करने लगता है। काम और रसना के गूढ़ संबन्ध का अंतर्निहित कारण यही है कि जो जल स्वाधिष्ठान में स्थित रहता है उसी का एक रूप जिह्वा में भी निवास करता है। शिव का विष-पान स्वाधिष्ठान ओर जिह्वा दोनों की तन्मात्रा के तात्त्विक सामंजस्य की अत्यन्त रमणीय समीक्षा का रूपक है। फिर तो विशुद्धि चक्र के बाद क्रौंच द्वार के पार प्राणों की तरंगें पूरी तरह सहस्रार के शीतांशु-लोक में प्रवेश कर जाती हैं जिनकी ऊर्मिल विशालता में 'बुन्द-समाना-समुन्द में' की उक्ति चरितार्थ होती है।

शिव का विष-पान मर्म-स्पर्शी प्रतीकों पर आधारित उपाख्यान है। जीवन और जगत् के हार्दिक सत्य का इतना शाद्वल निरूपण बस केवल भारतीय ऋषि-मनीषा के वश की बात है। मान्यता है कि विष अगर शिव के उदर तक आता तो पाताल भस्म हो जाता, इसीलिए शिव उसे कंठ में ही रोक लेते हैं। पाताल पृथ्वी तत्त्व की पृष्ठभूमि है और आकाश उसकी शीर्ष्ण मर्यादा है। जब तक पाताल है तब तक ऊर्ध्वारोहण की संभावना का आधार शेष है। भूत-सत्ता के धरातल पर पाताल तमस्-लोक है और यावत् अन्धकार है तावत् प्रकाश के अंकुरण की आशा बनी रह सकती है। लेकिन, आध्यात्मिक परिदृश्य में यह बिन्दु-तत्त्व के स्खलन की कथा है। स्वाधिष्ठान ध्वस्त हो जाय, बिन्दु या वीर्य बाहर छलक जाय तो फिर प्राण केवल ग्लानि से गल सकते हैं और गरल को अमृत में बदलने की बात व्यर्थ हो जाती है। वैसे, शिव समष्टि के वाङ्मय हैं। सारी संभावनाओं के शिखर-रूपान्तर के प्रतीक-पुरुष है, अतः उनके लिए आकाश-पाताल का कुलाबा मिला देना भी, भला कहें तो, भृकुटि-विलास भर है। फिर भी, सोम-विद्या की सीमा में शब्दों का एक अपना ही अर्थ होता है।

संक्षेप में, वाक् पृथ्वी का प्रतिरूप है। मन द्यौ का दर्पण है। इन दोनों के बीच प्राणों का नीलाभ अन्तरिक्ष है। विराट पुरुष की कल्पना के सन्दर्भ में, पृथ्वी शिव का कटि-प्रदेश है, द्यौ उनका मानस लोक है जहाँ उनकी जटा में कोटि-कोटि आकाशगंगाएँ भटकती रहती हैं और अन्तरिक्ष उनकी ग्रीवा है जहाँ प्राण-वातास का आवर्त्त उभरता रहता है। जब परम व्योम से प्राणिक सत्ता का अन्तरिक्ष में अवतरण होता है या जब शब्द प्राणों के आकाश में प्रवेश करते है तब एक रहस्यमयी नीली-सी आभा बिखर जाती है। वैसे भी, वैज्ञानिक सत्य है कि शरीर की सूक्ष्म कोशिकाओं से निःसृत प्राणिक तरंगों का स्पेक्ट्रम नीला होता है। भौतिक सत्ता मर्त्य है। सूक्ष्म प्राण की ऊर्जा अमृत है। शिव इसी महाप्राण के प्रांजल पुरुष है। भूत-जगत् का कलिल-कोलाहल ही विष है। शिव इस विष को पीकर नीलकंठ हो जाते हैं। वस्तुतः, प्राणों का ऊर्ध्वारोहण शिवत्व है और अभाव का परा-भाव में रूपान्तरण विषपान है। इसीलिए, *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में कहा भी गया है — "भावाभावकरं शिवं"।



कालकूट फल दीन्ह अमी को

शिव अपूर्व देवता हैं। कुछ पता नहीं चलता कहाँ से आते हैं और क्षणांश में कहाँ कल्पना-क्षितिज के पार चले जाते हैं। उनके वर्णन में श्रुतियों के अक्षर अटपट पड़ जाते हैं, पुराणों की वाणी वैकल्पिक लगती है और इसीलिए वैदिक मनीषा उन्हें 'देवानामसुरत्वमेकं' कह कर विश्राम करती है। अर्थात्, वे एक ही साथ देवत्व और असुरत्व की बृहत् ऊर्जा के एकल पुंज हैं। शिव की महिमा इतनी बड़ी है कि उनके लिए एकांगी विशेषण व्यर्थ हैं। यदि कुछ कहना ही पड़े तो शिव तिक्त-मधुर हैं, साधु-अभद्र हैं, विद्रूप-सुन्दर हैं, सौम्य-दारुण हैं और औघड़-दानी हैं। शिव भोले हैं, भूतनाथ भी हैं, अत्यन्त दीन हैं, अलौकिक दानी भी हैं। सबको अपने लिए इधर-उधर से ढेर सारा जोड़ने और जुटाने का ज्वर रहता है, लेकिन शिव को अपना सबकुछ लुटाने की जल्दी रहती है। सभी देवता बटोरने के लिए व्याकुल रहते हैं और बिलखते हैं जबकि शिव केवल बाँटते हैं ओर विहँसते हैं। उनकी मस्तिष्क शिराओं में समाधि का महामौन है, अधरों पर मन्द मुस्कान है, लेकिन जब उज्ज्वल अट्टहास करते हैं तब हिमालय का धवल विस्तार भी धूमिल पड़ जाता है।

शिव के विग्रह से लेकर उनके अनुग्रह तक विरोधाभासों का अनुपम संयम है। हिमगिरि पर उतरने वाली शरद चाँदनी जैसी कपूरी देह है, लेकिन शिव उस पर घोर श्मशान के भस्म का लेपन करते हैं। उनकी तीसरी आँख में दावानल की विकराल ज्वाला है, लेकिन पिंगल जटाओं में पीयूषवर्षी चन्द्रमा की नवजात कला भी है। गले में फूत्कार-प्रवण भुजंगों का अंगहार है, लेकिन सस्मित अधरों पर चिद्-विलास की उच्छरित रसधार भी है। उनके पास एक ओर सर्वनाशक त्रिशूल तंत्र है, लेकिन दूसरी ओर भयावह मृत्यु से रक्षा करने वाला तारक मंत्र भी है। वे स्वयं नंग-धड़ंग हैं, कटि में आकाश लपेटे रहते हैं, लेकिन उत्कट याचकों को स्वर्ग की अगाध समृद्धि

प्रदान करते हैं। अपने तो कंगाल हैं, कपाली हैं, दरिद्र-शिरोमणि हैं, लेकिन दूसरों को सुरेश के स्वर्ण-मणियों की संपदा दे डालते हैं। अपने लिए महज एक बसहा बैल काफी हैं, लेकिन सामने वाले के खूँटे पर कामधेनु बाँध आते हैं। उनके भवन में केवल भाँग की टाटी और आँगन में धतूरे के पौधे हैं, लेकिन माँगने वालों को कल्पवृक्ष की छाया में खड़ा कर देते हैं और साथ ही संकेत भी दे देते हैं कि इस निहंग नटराज के निवास में कोई कमी नहीं है, इसलिए यहाँ माँगना है तो छोटे की तरह क्षुद्र-भाव से मत माँगो — "नागो फिरै कहै माँगनो देखि, न खाँगो कछू जनि माँगिये थोरो।"

शिव आशुतोष हैं, यानी, थोड़े में ही बड़ी जल्दी तृप्त हो जाते हैं। कोई बौरैना बेल की भी तीन पत्तियाँ चढ़ा दे, मन्दार की दो अवगुंठित कलियाँ अर्पित कर दे और धतूरे का चार फूल ला दे फिर शिव से चाहे सारे सुख और सुरनाथ का पद माँग ले। ऐसा निष्प्रयास प्रसन्न होने वाला और अवढर ढरने वाला कोई दूसरा देवता नहीं है। सारा असुर-समूह अमृत के लिए हाहाकार करता है और निरन्तर अपने ही आक्रोश से सन्तप्त रहता है। देवता किसी तरह अमृत पी लेते हैं, लेकिन उसे पूरी तरह पचा नहीं पाते हैं। सुधा-कलश का कितना अंश तो केवल उनकी भाग-दौड़ और छीना-झपटी में छलक जाता है। लेकिन, दूसरी ओर योगी शिव हैं जो सृष्टि के आसन्न संत्रास की वेला में देवताओं के निवेदन से द्रवित होकर भीषण विष के सघन-संगोलित सारांश को कंठ में ऐसे धारण कर लेते हैं जैसे वह अमृत का नव्य नवनीत हो। शिव के विष पान की कथा विशेष रूप से पौराणिक है। पुराणों में वैदिक तत्त्वबोध को मनोरम रूपकों में बाँधने का प्रयास किया गया है ताकि सत्य की संधारणा को सर्व-सुलभ बनाया जा सके। फिर भी *ऋग्वेद* के रुद्र-सूक्त से स्पष्ट है कि प्रकृति में जब कभी मरुत् का प्रकोप होता है, वायुमंडल विक्षुब्ध होता है, हिम-सलिल का संतुलन टूटता है, आकाश का प्रदूषण बढ़ता है, व्यक्ति चेतना में घृणा और हिंसा का हाहाकार उठता है और संक्षेप में ऋतु की मर्यादा आहत होती है तब "न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति" (हे रुद्र, तुमसे अधिक शक्तिशाली सारी सृष्टि में कोई नहीं है) का मंत्र जपना पड़ता है। तभी शान्ति मिलती है। इसीलिए, वेदों में शिव को

ऋदूदरः (ऋत या प्राकृतिक संतुलन का धारक) सुहवो (कोमल हृदय वाला) भिषग् (वैद्य) आदि विशेषण दिये गए हैं और रुद्र के सौमनस्य में शरण लेने की बात कही गई है — "आविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्"।

ऋग्वेद का एक मर्मस्पर्शी मंत्र है जिसमें शिव के संबन्ध में कहा गया है — "यो अस्ति भेषजो जलाषः"। *नीलरुद्र उपनिषद्* में शिव के इसी परिभाषा की पुनरावृत्ति की गई है — 'रुद्रो जलास भेषजः'। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'जलास भेषजः' को शीतल उपचार के अर्थ में लिया है। भौतिक सन्दर्भ में यह अर्थ एक सीमा तक सही लेकिन साथ ही सतही लगता है। इस परिभाषा पर महर्षि अरविन्द ने थोड़ी गहराई से विचार किया है। वे इसे शिव का बड़ा प्राकृत और प्रतीकात्मक चित्रण मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृत के 'भेषज' और लैटिन के 'फिकस' या 'फिग' ट्री में ध्वनि की ही नहीं अर्थ की भी समानता है। इन दोनों शब्दों का सीधा अर्थ है — पीपल का पेड़। अतः 'जलास भेषजः' का तात्पर्य एक ऐसे पीपल के वृक्ष से है जिसकी डालियाँ पानी में फैली है। शिव इसी जल-पीपल की प्रतिमूर्त्ति है। पीपल एक विचित्र वृक्ष है। यह अपने ही प्राण-प्रश्वास की सिहरन से झिर-झिर काँपता रहता है और धुआँधार आँधी में लगता है, निस्तब्ध खड़ा है। इसकी छाया में कंगाली तर्क की आपदायें अनायास अन्तर्द्धान हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति इसे प्राण-वायु का प्रणेता और दीर्घ मंगल का वृक्ष मानती है। उपनिषद् की शब्दावली में — "यत्तेक्षेमम् अनीनशत् वातिकारोऽप्येतु ते"। यही स्तुति शिव के लिए भी लागू होती है। दूसरी ओर, जल को भौतिक सत्ता के जन्म से लय तक या उद्‌भव से अन्त की सारी विधाओं का पर्याय माना जाता है। जल की वैदिक संज्ञा 'आपः' है जिसके संबन्ध में *शतपथ ब्राह्मण* का कहना हे — "सेदम् सर्वम् आप्नोद यदिदं किं च यदाप्नोत्तस्माद् आपम्", अर्थात्, संपूर्ण सृष्टि में जहाँ कहीं जो कुछ भी है उसमें शाश्वत भाव से व्याप्त सत्ता आपः या जल है। वेदों में 'आपः' को 'समुद्र' भी कहा गया है। शिव इसी समुद्र के पीपल पादप हैं।

संस्कृत साहित्य में पीपल 'अश्वत्थ' वृक्ष है जो व्यक्त विश्व का प्रतीक है और साथ ही अव्यक्त विराट का वाच्य भी है। प्रकारान्तर से, शिव

समष्टि के अनन्य देव-तत्त्व हैं। वे कर्पूर-गौर हैं, ताम्र-अरुण हैं, वभ्रु-विलोहित हैं और भव-भाव के अभूतपूर्व अधिष्ठाता हैं। उनकी मंत्रमयी मुग्धता से समाधि की आभा फूटती है, उनके सस्मित अधरों से आनन्द की नीरव निष्पत्ति होती है और उनके विष-व्याप्त कंठ से नीलम उजास की अमृत भाषा प्रस्फुटित होती है। शंकर की इसी अनगढ़ दिव्यता को ऋषियों ने 'जलास भेषज:' या 'सलिल का अश्वत्थ' कहा है। इस संधारणा का एक लोकगम्य रूपान्तरण गोस्वामी तुलसीदास ने भी किया है। उनकी मानस-दृष्टि में शिव गंगातट के सीता-वट हैं। यह वृक्षराज काशी और प्रयाग के बीच सीतामढ़ी नामक स्थान में अवस्थित रहा जिसके एक ओर वारिपुर और दूसरी ओर दिक्पुर नामक गाँव हैं। सीतावट के आध्यात्मिक अर्थ का पल्लवन एवं दिक् और वारि का सूक्ष्म संकेत ग्रहण किया जाय तो गोस्वामी जी भी वही कहना चाहते हैं जो रुद्र-सूक्त के ऋषि गृत्समद् ने कही है — "यो अस्ति भेषज: जलास:"। तुलसीदास के अनुसार वैसे भी वटवृक्ष में शिव का निवास होता है — "प्राकृतहूँ बट-बूट वसत पुरारि हैं"। लेकिन, सीतावट की महिमा तो और भी बड़ी है, क्योंकि वह गंगातट पर वाल्मीकि के आश्रम का वृक्षराज है जहाँ स्वयं सीता ने निवास किया था। उन्हीं के शब्दों में —

मरकत बरन परन फल मानिक-से,
लसै जटाजूट जनु रूखवेष हरु है।
सुरसरि निकट सुहावनी अवनि सो है
रामरवनी को बट कलि कामतरु है॥

गहरे अर्थों में, अश्वत्थ सृष्टि की विराट अर्थवत्ता का वृक्ष है। यह वासुदेव के पावन वपुष् का साक्षात् प्रतीक है और शिव की सत्ता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। यह बड़ा वातुल, वैतालिक और वातास-प्रवण पादप है। थोड़ी-सी हवा झुरकती है और सारा पेड़ झन-झना जाता है। इसकी पत्तियाँ सन्नाटे की पहली टूटन का संकेत देती है। यह वृक्ष आकाश में पवन के प्रथम स्पन्दन का सूचक है। कहा जाता है कि नीरवता के निशीथ-बिन्दु पर भी इस तप:पूत तरुवर का कोई एक पत्ता अवश्य काँपता रहता है। लेकिन,

यह महावृक्ष जितना भव्य और मंगलपूर्ण है उतना ही भयावह और रौद्र भी है। पीपल सचमुच बड़ा पागल पेड़ है। यह परस्पर विपरीत परिस्थितियों में भी विभक्त सत्ता के द्वन्द-समास की तरह खड़ा रहता है। इस पर ब्रह्म और पिशाच दोनों सहज भाव से निवास करते हैं। इस वृक्ष की कीमत भले कम आँकी जाय लेकिन इसके पराभौतिक मूल्य की महिमा विशाल है। यह कोई साधारण पेड़ नहीं है, सनातन तत्त्व का तीर्थ-तरु है और इसके पत्ते-पत्ते पर प्राणिक संस्फुरण की अनुक्रमणिका अंकित रहती है। इसीलिए, श्रुतियाँ अश्वत्थ को 'ऊर्ध्वमूलं अध: शाख:' कहती हैं, अर्थात्, यह एक ऐसा उल्टा पेड़ है, जिसकी जड़ें ऊपर परा-व्योम में बिखरी हैं ओर इस की डालियाँ अन्ध-पाताल तक फैली हैं।

पीपल छन्दपर्णी पेड़ है। यह विश्व-पुरुष की मस्तिष्क-शिराओं का पार्थिव रूपक है। स्वामी करपात्री महाराज इसे गंगा के ऊँचे कगार से गिरा अर्द्ध-उन्मूलित वृक्ष मानते हैं। जो भी हो, इस वृक्ष की अर्थवत्ता इतनी व्यापक है कि वेदान्त ने इसे सारी वनस्पतियों में सबसे उदात्त माना है। इसकी शाखायें श्रुतियों के स्कन्ध से निर्मित होती हैं और इसका मूल महत्-तत्त्व का मांसल प्रतिरूप है। इसकी उत्पत्ति परम ब्रह्म से होती है और इसके प्रत्येक अवयव में परात्पर सत्ता का संस्कार परिलक्षित होता है। शास्त्रों का संकेत है कि इसका उच्छेदन असंग-शस्त्र से ही संभव है। संक्षेप में, पीपल सृष्टि के रस-विस्तार का वृक्ष है। पृथ्वी जल से, जल तेज से, तेज पवन से और पवन आकाश से परिव्याप्त है। भारतीय मनीषा काल को आकाश का भी अधिष्ठान मानती हैं। शिव इसी काल की अव्यक्त सत्ता के अधीश्वर हैं, वे महान देवता हैं, महद्-ब्रह्म हैं। इसीलिए, उन्हें 'सलिल-व्यापी अश्वत्थ' की संज्ञा मिली है। उनके लिए समष्टि के विष-कल्मष का पान करके भी समाधि में अवस्थित रहना नितान्त संभव है। आकाश के कंपन से, पवन के घर्षण से, तेज के उच्चावचन से, जल के प्रदूषण से और पृथ्वी के क्षरण से प्रकृति में जितनी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और मनुष्य के मन में पाप की जितनी प्रवृत्तियाँ उठती हैं उन सबके सारे जहर को शिव काल की तरह आत्म कर लेते हैं। वस्तुत:, शिव कालातीत सत्ता के अनादि पुरुष हैं।

ग्रीक दार्शनिक हिराक्लिटस का विश्रुत वाक्य है कि किसी एक ही नदी में दो बार स्नान करना संभव नहीं है। संसार में परिवर्तन की क्रिया इतनी तीव्र है कि जब तक किसी घटना की अभिव्यक्ति का भाव उठता है तक तक कोई दूसरी घटना उपस्थित हो जाती है, जब तक हम कहें कि 'बिजली चमकी' तब तक चमक लुप्त हो जाती है, बादल गरजने लगते हैं और जब तक हम किसी नदी के पानी में दूसरी डुबकी लगाते हैं, तब तक पहले की जलधारा बदल जाती है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में घटनाओं के अनुक्षण विलोपन को हिन्दू शास्त्रों में दैनन्दिन् प्रलय का सिद्धान्त कहा जाता है जिसके अनुसार प्रतिदिन सुषुप्ति और प्रबोध-काल के बीच सारा विश्व एक नव्य-नवतर रूप धारण कर लेता है। अश्वत्थ के शब्दार्थ में इसी संधारणा का परिचय मिलता है। व्युत्पत्ति के अनुसार जो कल तक न रहे, आने वाले क्षण में जिसकी सत्ता संदिग्ध हो और निकट भविष्य में जिसके ठहरे रहने की संभावना शून्य हो वही अश्वत्थ है — "न श्वोऽपि स्थतुम् अर्हः इति अश्वत्थः।" तात्पर्य यह कि पीपल पानी के भीतर प्रकाश के पल्लवन का वृक्ष है, क्योंकि जहाँ स्पन्दन, संक्रमण, उत्सर्जन या विसर्जन की प्रक्रिया नहीं होती वहाँ प्रकाश की कोई रेखा नहीं बन पाती। अतः, अश्वत्थ वृक्ष सतत् परिवर्तन की प्रक्रिया का यथार्थ प्रतिनिधि है। जहाँ परिवर्तन है, तात्क्षणिकता के सांतत्य का भाव है, एतद् का तद्वत् में निरन्तर रूपान्तरण है, वहाँ काल-तत्त्व का बोध अनिवार्य है। पीपल अनन्त समय का साक्षी है, काल-पादप है और, दूसरे शब्दों में, काल-कंपन के झिर-झिर स्वर का बोधि-वृक्ष है।

इसीलिए, शिव जिस विष का पान करते हैं उसे काल-कूट की संज्ञा दी गई है। विश्व के संपूर्ण वाङ्मय में काल-कूट से अधिक सारगर्भित शब्द मिलना कठिन है। काल-कूट चैतन्य सत्ता का चूड़ान्त है जो शाश्वत, स्थायी, अचल और अचंचल है। *गीता* में कहा गया है — 'कूटस्थोऽक्षर विद्यते', अर्थात्, जिसका कभी क्षरण नहीं होता वही कूटस्थ है। काल-कूट अस्तित्त्व की कल्पनातीत विरलता का बोधक है, अंबर की निर्बाध विशालता का द्योतक है और, संक्षेप में, परम पद का वाच्य है। *ऋग्वेद* की एक ऋचा कहती है — "ततः क्षरति अक्षरं, तद्विश्वं उपजीवति", यानी, जब परा व्योम

से अक्षर झरते हैं, शब्द फूटते हैं, स्फोट होता है तब विश्व की रचना होती है और प्रकृति में प्राण का संचरण होता है। ब्रह्मांड में कोई चीज़ जीवित नहीं रहती है, प्रत्येक वस्तु समय के साथ हर पल मरती रहती है। संसार में जीवन नहीं मात्र उपजीवन होता है। जीवन अमृत है, उपजीवन मर्त्य होता है। यह तो मनुष्य की माया-मति का चक्कर है कि लोक धिक्-जियना को ही जीवन मान बैठते हैं। यही विडंबना अमृत से वंचित चित्त की त्रासदी है। 'कूट' शब्द की महिमा इसी सन्दर्भ में प्रकट होती है। कूट का अर्थ है — प्रशान्त, निस्तब्ध और अविचल जिसे वैदिक शब्दावली 'पृषन्तम् सिप्रं अदब्धपूर्वम्' कह कर एक अतिरिक्त आयाम खोलती है। अर्थात्, जो नहीं चलता है वही चलता है, जो भीतर स्थिर है वही बाहर गतिशील है, जो निकटतम है वही दूरस्थ है और जो परम-पुरातन है वही नित्य-नूतन है। वस्तुत:, जहाँ गति नहीं होगी, परिवर्तन नहीं होगा, तत्त्वान्तरण नहीं होगा वहाँ काल का बोध भी नहीं होगा। ऐसी स्थिति में, यह स्मरणीय है कि परिवर्तन का प्रतिबन्ध केवल सापेक्ष काल पर लागू होता हे जहाँ गतियाँ प्रकाश की सीमा में आबद्ध रहती हैं। प्रकाश के उस पार काल अकाल तत्त्व में विलीन हो जाता है और सारी गतियाँ अगति की गोद में विश्राम करने लगती हैं। अत:, काल-कूट का संबन्ध निरपेक्ष काल से है। शिव इसी निरपेक्ष काल के नियामक हैं। यही कारण है कि श्रुतियाँ 'ज्ञः कालकारो' कह कर उनकी स्तुति करती हैं।

पर्वत के शिखर या गिरिश्रृंग को भी 'कूट' कहा जाता है। अत:, शाब्दिक अनुशासन से शिव के कालकूट पीने का एक संकेत यह भी है कि वे समय के शिखर पर अवस्थित हैं, सापेक्ष काल की दुविधा से दूर हैं और भौतिक प्रपंच की परिमा से परे हैं। वस्तुत:, शिव की प्रतिष्ठा का क्षेत्र समय की सीमा के उस पार है, अर्थात्, वे वहाँ हैं जहाँ समय निस्पन्द हो जाता है, भूत-जगत् का सारा स्वर-संत्रास विलीन हो जाता है, वैखरी का संपूर्ण वाक्-वितान शिथिल हो जाता है, पैशाचिक ध्वनियों का टंट-घंट टूट जाता है, सारी प्रकृति साँस रोके खड़ी रह जाती है और केवल शब्दहीन नीरवता का निर्विकल्प आनन्द शेष रह जाता है। मनुष्य के शरीर में रीढ़ को पहाड़ की

उपमा दी गई है और उसके मस्तक की चोटी पर सहस्रार है जिसे गिरिश्रृंग माना गया है। मस्तिष्क के भूरे, चितकबरे या चित्रल पदार्थ की संहति के कारण उसे चित्रकूट भी कहा जाता है जहाँ 'निसि दिन नीको लागत' का भाव स्फुरित होता है। सुषुम्ना नाड़ी का सहस्रार के ब्रह्म-रंध्र में खुलना ही चेतना या काल के शिखर पर अवस्थित होना है। यह समाधि की अवस्था है। अतः, शिव का कालकूट पीना उनकी अगाध समाधि का द्योतक है। मन की ऐसी भावातीत स्थिति में विचारों के बुद्-बुद् नहीं उठते, अनागत और अतीत का प्रश्न नहीं उठता है और केवल दिव्य वर्त्तमान का वातायन खुला रह जाता है जिससे मस्तिष्क में विराट ब्रह्म के शीतल स्पर्श की सिहरन घुलती रहती है। इस सिहरन में अमृत का स्वाद होता है। इसे ही गगन-गुहा से अजर रस का झरना, मान-सरोवर में हंस का तैरना, मन में निर्मल चन्द्रिका का बिखरना या काल निचोड़ कर अमृत पीना कहा जाता है। वस्तुतः, कालकूट विष का नहीं अमृत का पर्याय है।

यह घटना अखंड विश्वास की पृष्ठभूमि में घटित होती है। काल छली है और वही सृष्टि का मूल कारण भी है, अतः, विश्व की सारी प्राकृत योजना छलपूर्ण है। शिव जानते हैं कि देवता भयभीत हैं और जो भयातुर होता है वह सन्देह की शरण में सुरक्षा ढूँढ़ता है, बात-बात में लिपिर-चिपिर करता हैं, नखरा-मटकी और नोंक-झोक की नौटंकी रचता है, झूठ बोलता है, लेकिन कौवा उसे नहीं काटता, उल्टे वही कौवे का कान काट लेता है। कूट का एक अर्थ छल, प्रपंच, व्याज या व्यामोह भी है। विष की आग से विपन्न देव-संस्था शिव की व्याज-स्तुति करती है। लेकिन शिव, अचल विश्वास के देव-पुरुष हैं। सबकुछ शान्त भाव से स्वीकार करते हैं। वे देवताओं के कालजन्य छद्म का उपचार करते हैं, जगत् की समस्त वंचनाओं का निवारण करते हैं और क्षुद्र कौटिल्य की शल्य क्रिया के उपरान्त स्वयं साक्षात् विश्वास की प्रतिमूर्ति बन जाते हैं। काल का, कलि का, कलुष और कलह-कोलाहल का सारा विष निर्द्वन्द्व सरलता से स्वाभाविक रूप में पी जाना कैवल्य के साक्षी का प्रत्यक्ष लक्षण है। यही कारण है कि उन्हें 'साक्षी शिवो केवलं' कहकर प्रणाम करने का विधान है। शिव

देवताओं द्वारा की गई अपनी कूट-प्रशंसा का मर्म जानते है, फिर भी हालाहल विष की अग्र-पूजा इतने अविमत्त चित्त से, अद्‌भुत भोलेपन के साथ ग्रहण करते है जैसे सचमुच कुछ जानते ही नहीं। विष की उपस्थिति ही अमृत की खोज का कारण बनती है। विश्व में सबकुछ सरल, सौम्य, शान्त और नितान्त सन्तुलित हो तो शायद लोक-जीवन में आनन्द की परिभाषा अधूरी रह जाएगी। प्रकृति का विकार और संसृति का वैषम्य ही विष है जिसके शमन के बाद एकरसता के आनन्द की अनुभूति होती है और यही अनुभूति अमृत की अवतारणा का मार्ग प्रशस्त करती है। कालकूट के शब्दार्थ के आलोक में शिवत्व के उदात्त-बिन्दु की व्याख्या भारतीय प्रत्यभिज्ञा का बड़ा गूढ़ रहस्य है। इसीलिए, सन्तों ने बार-बार संकेत दिया है — ''काल निचोड़ि के अमृत पीवै''।

वैज्ञानिक दृष्टि से काल भौतिक जगत की चौथी विमा है। इसे 'अदृश्य' का पर्याय माना गया है। मनुष्य की काया 'दिक्' के तीन आयामों में ही सीमित है, अत: पदार्थवादी सन्दर्भ में चौथी विमा यांत्रिक पकड़ से बाहर रह जाती है और यह कहना कठिन हो जाता है कि काल क्या है? फिर, इसे पाने, पकड़ने और पीने की बात तो अन्तिम सत्य की तरह काल्पनिक लगती है, और है भी, क्योंकि काल से बड़ी कल्पना और समय से बड़ा सच कुछ भी नहीं है। पुरातन भारतीय ऋषियों की दृष्टि में काल चैतन्य सत्ता की सदिश राशि है। दूसरे शब्दों में, काल पदार्थ-लोक में मनस्-तत्त्व की उपस्थिति का बोधक और ब्रह्मांड की त्रिविम जड़ता में प्राण के स्फुटन का प्रतीक है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में, अभाव की भावात्मक व्यंजना काल है। अत:, जब तक मनुष्य के पास मन है, मन में विचारों के स्पन्दन हैं, शब्दों की अश्रुत प्रतिध्वनि है और अन्तर में आकाशीय वक्रता का विवर्त्त है तभी तक काल का बोध संभव है। ऐसे क्षण अनेक बार आते हैं जब मन के निर्मल निस्तरंग पटल पर विचारों के बिंब नहीं उठते और पता भी नहीं चलता कि कब वह स्वयं से पार चला गया। ऐसी स्थिति में काल ठहर जाता है। शब्द-सृष्टि के पार परावाक् की पृष्ठभूमि में कालकूट पीने का अर्थ समझ में आता है। यह चेतना की वही परिधि है जिसे छूकर वाणी हताश लौट आती है और जिसे

पाने की उत्कंठा मात्रा से मन बैकुंठ बन जाता है। फिर तो लगता है जैसे शेष सब कुछ अमृत है।

मन की मूल प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह कहीं मानता नहीं है और तब तक उड़ता है जब तक ज्ञान की अग्नि में स्वयं को आत्मसात् नहीं कर लेता, क्योंकि मन कहीं से जानता है कि सत्य के सूर्य को छूने के प्रयास में शब्दों के संपाती के पंख झुलस जाते हैं। मनुष्य के लिए सत्य के साक्षी-भाव का प्रतिबन्ध है कि सुधा की सरस्वती का पानी पीने से पहले प्रकृति के 'विषम गरल' का पान अनिवार्य है। धरती का जहर देह पीती है, जल का गरल शरीर की रक्त-शिरायें पीती हैं, पवन का प्रदूषण प्राण पीते हैं और आकाश का विष मन पीता है। इसीलिए, जब अन्तरिक्ष में विध्वंस की धुँआस भरती है तब अनजाने ही मनुष्य का मन विषाक्त हो जाता है। आकाश का कंपन ही काल का सापेक्ष रूप है। जहाँ शब्द आकाश में विलीन हो जाते हैं वहीं से मन की सीमा आरम्भ होती है और जहाँ मन का विस्तार समाप्त होता है, वहाँ से परम धाम का साम्राज्य शरू होता है। इसे अमृत-लोक भी कहा जाता है। इस परम धाम में मन की गति नहीं होती, मात्र आत्म-विभूति की रसमयी तृप्ति होती है। ध्यान की तुरीया अवस्था के साक्ष्य पर कहा जाता है कि मन में विचारों की अटूट श्रृंखला नहीं होती, अर्थात्, उनका कोई सघन, अविच्छिन्न सांतत्य नहीं होता, बल्कि सत्य तो यह है कि दो विचारों के बीच उनके सन्धि-बिन्दु पर एक अत्यन्त सूक्ष्म क्षणांश का शून्य अन्तराल होता है। इस शून्य में प्रवेश करते ही मन परम लोक के नित्य आनन्द में लीन हो जाता है और उसे 'सुरति' का सुख मिल जाता है, यानी, समाधि लग जाती है। मन की कुल चंचलता अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति तक सीमित रहती है। समाधि में इसी दिव्य ऐश्वर्य का सुखद बोध होता है। चेतना के इस धरातल पर काल की इयत्ता निःशेष हो जाती है और मन अनन्त के अगाध सिन्धु में डूब जाता है जिसे दूसरे शब्दों में अमृत-पान कहा जाता है। जैसे प्रकाश के पार शाश्वत ठहराव का द्वार खुलता है वैसे ही मन की सीमा के उस पार परम चेतना की अनन्त विस्तीर्णता का आयाम उभरता है और वह मुक्ति की रसमयी अनुभूति से भर-भर जाता है। तब काल के अतिक्रमण की भूमिका स्वयं सिद्ध लगती है।

गहरे अर्थों में, शिव का कालकूट गरल पीना विष नहीं बल्कि खाँटी अमृत पीना है। और जो भी हो, कालकूट की समीक्षा से इतना तो स्पष्ट है कि इसे पीने वाला निश्चित रूप से अमरता का अधिकारी होगा। सच तो यह है कि जो अमर होगा वही कालकूट पी सकता है। इसका एक गहरा अर्थ है। *अथर्व* वेद में 'काले मन: काले प्राण:' की बात कही गई है। काल की अविकल सत्ता में ही मन और प्राण की प्रतिष्ठा मानी गई है। अत:, कालकूट पीने का अर्थ मन और प्राण के पार चले जाना है, अर्थात, कालातीत हो जाना है। शास्त्रों में इसे अधिष्ठान साक्षात्कार कहा जाता है। इसके लिए वैश्वानर विद्या की उपासना का निर्देश है। वैश्वानर विद्या मधु विद्या की एक विधा है जिसमें व्यक्ति-सत्ता स्वयं को विश्वरूप पुरुष में रूपान्तरित कर लेती है। व्यष्टि की समष्टि के साथ तादृकता वैश्वानर विद्या का मूल सूत्र है। मनुष्य को अपने लौकिक जीवन में केवल सन्ताप की पूँजी मिलती है और यह केवल उसके ऊपर निर्भर है कि वह कितने कौशल से उसे आनन्द की समृद्धि में बदल देता है। काल की गति बड़ी गहन है। इसे पाने के लिए मन का अतिमानस की विशालता में ऊर्ध्वारोहण अनिवार्य है। संपूर्ण जगत् काल का विराट विष-चक्र है, मानव शरीर मन का लीला स्थल है और मन आत्मा का आकाश-निलय है। इसमें जीव और ब्रह्म दोनों को एक ही बिन्दु पर प्रकट करने की संभावना कूट-कूट कर भरी है। देह में आत्मा की उपस्थिति को बिन्दु-तत्त्व कहा जाता है। बिन्दु-तत्त्व का रहस्य बड़ा गहरा है। कुछ लोग इसे रज-वीर्य का सूक्ष्म सारांश भी मानते हैं। वीर्य का अधोवर्ती स्खलन विष हैं, लेकिन उसका ऊर्ध्व आरोहण और उसके तैजस अंश का सहस्रार की ओर प्रवर्तन अमृत है। जहाँ शरीर अशुद्ध होता है, वहाँ धरती गन्दी रहती है, जहाँ प्राण अपवित्र होते हैं, वहाँ पवन विषाक्त होता है और जहाँ मन पाप-बिद्ध होता है वहाँ आकाश दूषित होता है। मन का ब्रह्म में विलीन हो जाना ही अमृत है जिसके बारे में श्रुतियाँ कहती हैं — ''तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवाऽमृत उच्यते''।

शिव संपूर्ण प्रकृति की सर्वांग शुद्धि के विश्वास-पुरुष हैं। उनके विष-पान में भी बड़ा रस है और यह रस-विज्ञान इतना आस्वाद्य है कि

वाणी शब्द-विसर्जन में ही कल्याण मानती है। धरती का विष वनस्पतियाँ पीती हैं, नदी-ताल का विष शैवाल पीते हैं, वायु का विष पीपल का पेड़ पीता है और आकाश का विष परम काल पीता है। शिव जलास-भेषज हैं, अश्वत्थ हैं, औषधि सम्राट हैं, काल पुरुष हैं और स्वयं शिव शब्द एक ऐसा मंत्र है जिसके मौन स्मरण से चिदाकाश में अमृत की वर्षा होती है। सत्य-साक्षी ऋषियों ने मनुष्य को 'अमृतस्य पुत्राः' कहा है। लेकिन, कैसी विडंबना है कि लोग अमृत की खोज में मर जाते हैं और शिव के विष पीकर अमर होने की बात भूल जाते हैं। वस्तुतः, विष-पान अमृत-प्राप्ति का अनिवार्य प्रतिबन्ध है। मनुष्य ने अपने ही देवत्व की संभावना को दाँव पर लगा दिया है। जिसके पाँवों पर सप्तलोक की निधियाँ लोट रही हैं, वही दैन्य का फूटा कटोरा लिए अन्नपूर्णा के द्वार पर निपट कंगाल की तरह पड़ा है। जिसकी मुट्ठी में इन्द्र का वैभव है, वही दाताराम की रँगहिल चवन्नी के लिए सरेआम हाथ पसारे खड़ा है। जिसके मणिपूर में तृप्ति का अक्षय स्रोत है, वही मद्दारी के बन्दर की तरह खाली पेट पर हथेली सहला रहा है। जिसके वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणि की माला है वही सागर-तट पर रेत से सीपी बटोर रहा है और जिसके मस्तिष्क के मधुकोष में अन्तःसलिला का अमृत बह रहा है वही प्यासे हरिण की तरह मरु-मरीचिका का पानी पी रहा है। शिव के विष-पान का संकेत है कि कालकूट पीने के बाद ही सुधा का बिन्दु-सरोवर मिलता है, समत्व की भूमि पर ही आनन्द के अंकुर फूटते हैं और कालजनित वैषम्य के निरस्त होने पर ही पारस्परिक सद्भाव के फूल खिलते हैं।

मनुष्य की दारुण व्यथा का कुल इतना ही कारण है कि वह विषपान की कला भूल गया है। समाज में भयावह वैषम्य की आग है, सौमनस्य की सरस्वती सूख गई है। प्रकृति में बीहड़ प्रदूषण है, अरण्य-संस्कृति की साधना विस्मृत हो गई है। आकाश विक्षुब्ध है, श्रद्धा लुप्त हो गई है और प्रत्येक प्राणी विक्षिप्त है। भाग-दौड़ है, विश्रान्ति नहीं है। कुटिलता की पेंच-दर-पेंच ऐंठन है, सरलता की शांभवी-शैली नहीं है। तर्क की तीव्र धार है, विश्वास का मृदुल स्पर्श नहीं है। सन्देह का कुश-कंटक है, आस्था के

पल्लव नहीं हैं। निर्गन्ध किंशुक का मोहक फैलाव है, सुगंधि की भाषा नहीं है। फिर भी उदास होने की बात नहीं है, क्योंकि मनुष्य-जाति की जिजीविषा अभी शेष है और अमृत की कामना उसके मन के किसी अलक्ष्य कोण में अभी जीवित है। भोले शिव के विषपायी अधरों पर तो यही स्वर खिलता है —

काहे रे नलिनी तू, कुम्हलानी
तेरे नाल सरोवर पानी ...



त्रिनयन शिव : तीसरी संभावना का संदर्भ

भारतीय मनीषा ने निरन्तर अतिरिक्त की उपासना की है। शब्दों से परे, अर्थ के पार, भाव से उत्तर, मन से अतीत, कल्पना से उच्चतर और बोध से बृहत्तर जो भी सत्ता है वही सबसे व्यापक और सबके भीतर है। जो पार्थिव यथार्थ या मानवीय चिन्तन से हरदम एक बित्ता ऊपर रहता है वही परम पुरुष है, वही प्रणम्य है। उसी के संबंध में निश्छल प्रार्थना के स्वर हैं — "तत्तेऽतिरिक्तं भजे"। शिव की तीसरी आँख प्रज्ञा का, पारदर्शिता का और उसी परासत्ता के दर्शन का प्रतीक है।

दृष्टि सामान्य है, दर्शन अतिरिक्त है, क्योंकि जो दृष्टि के पार है वह भी दर्शन की परिधि में अपनी छाया छोड़ जाता है। पुण्य-गंधा पृथ्वी की विपुल वनराजि सामान्य है, अन्तरिक्ष की क्षितिज-व्यापी नीलिमा अतिरिक्त है। वासंती लताओं के हरित प्रांत में खिले सुमन सामान्य है, लेकिन भ्रमर-प्राण को अवश आसक्त कर देने वाला किंजल्क-उच्छ्वास अतिरिक्त है। नील-शैल शिखरों पर लोटते-लुढ़कते काले-कपासी बादल सामान्य हैं, लेकिन पपीहे के सूखे कंठ की आकुल पुकार से सिहर कर सहसा चू पड़ने वाली स्वाती की बूँद अतिरिक्त है। वस्तुतः, जब सब कुछ रिक्त हो जाय फिर भी वह कुछ जो शेष रह जाय वही अतिरिक्त है। दूसरे शब्दों में, संपूर्ण सृष्टि के सारे खालीपन को सर्वथा भरने के बाद भी जो नाचीज़ स्वयं ज्यों-की-त्यों भरी-की-भरी रह जाय, वही अतिरिक्त है। शून्य के भीतर जो शून्य है, अनन्त के बाहर जो अनन्त है, वही अतिरिक्त है। शंकर की तीसरी आँख इसी सत्य की ओर संकेत करती है।

विकासवाद की मान्यता है कि संतुलित दृष्टिकोण बनाए रखने के लिए प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को दो आँखें दी हैं। दोनों खुली रह सकें तो अच्छा है। दैवयोग से एक बंद भी हो जाय तो थोड़ा अटपट जरूर लगता है, लेकिन काम चल जाता है। दोनों आँखों का बंद हो जाना दुःखद है। दोनों का खुला

रहना सामान्य है। लेकिन, दोनों आँखें खुलें या बंद रहें, तीसरी आँख का खुल जाना अतिरिक्त है। तब, व्यक्ति समत्व को ही नहीं विषमता को भी सुन्दर अर्थ देने लगता है। इसीलिए, सृष्टि में जो कुछ व्यर्थ, तिक्त और त्याज्य प्रतीत होता है, शंकर उन सबको नैवेद्य की तरह पुलक प्रहर्ष के साथ ग्रहण करते हैं। मंदार के फूल, बौरैना बेल के पत्ते, बैल की सवारी, सर्प, भूत-भभूत सबको अवधूत भाव से धारण करना और व्यर्थता को भी स्वर्णिम गरिमा प्रदान करना भोले बाबा के सिवाय किसी और के वश की बात नहीं है। शंकर समता के सौन्दर्य का ही नहीं, वैषम्य के विष का — विसम गरल का — भी पान करते हैं। यह उनकी तीसरी आँख के कौशल की बात है।

आदिशक्ति की चेतना मूलाधार से उठकर मेरुदंड के विभिन्न पर्वों का चक्र-भेदन करती हुई कैसे सहस्त्रार में सोए शिव से मिलती है, यह दर्शन का नहीं उत्तर-दर्शन या योग का विषय है। लेकिन, यह सच है कि प्रत्येक परमाणु चाहता है कि वह प्राण-बिन्दु बन जाय। प्राणों की कामना रहती है, वह मन हो जाय और मन में स्वयं निर्बीज होकर शान्ति के अतल शून्य में विलीन हो जाने की आकांक्षा निवास करती है। महर्षि अरविन्द इसे पराचेतना का संकेत मानते हैं। उपनिषद् प्रत्येक वस्तु के भीतर अपनी सीमा के अतिक्रमण की सहज वृत्ति को अतिरिक्त की अर्चना कहती है। योग-दर्शन में इस अर्चना की बड़ी रसवंती समीक्षा की गई है जिसमें देह का तुलसीदल, प्राणों का पुष्प, संवेदना की सुगन्धि और आत्मा की ज्योति, सब कुछ प्रभु की पूजा में अर्पित करना पड़ता है। तुरीया की मदिर ज्योत्स्ना में स्नान करते ही अहंकार की गाँठ खुल जाती है और त्वचा-रुधिर तो दूर, रीढ़ के पोर-पोर में सात्त्विक आनन्द की सिहरन भर जाती है। मन स्वयं अपने पार चला जाता है और गुणों से परे, प्रकृति की पूर्वसत्ता में विश्राम करता है। इसी संदर्भ में कृष्ण का कहना है- ''गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति'' (*गीता*, XIV, 19)। मन विराट की चेतना में विसर्जित हो जाय यही मद्भाव है। तीसरी आँख का खुलना तुरीया के तल पर 'मद्भाव' का उदय है।

सारी प्रकृति को तीनों गुणों की सूक्ष्म अन्विति का विस्तार समझना और फिर गुणों के भी पार चले जाना — 'निस्त्रैगुण्य' हो जाना, ममत्व का

स्खलन, बद्ध अहं का विसर्जन, मन का प्रियतर के प्रति आग्रह बिखर जाना ये सारी बातें व्यक्ति को द्रष्टा की स्थिति में ले जाती हैं। जो कुछ श्रेय है जब वही मन को स्वयं प्रिय लगने लगे तब प्रत्येक आचरण में वैदिक छन्दों की प्रतिध्वनि गूँजने लगती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों से ऊपर उठ जाता है, आलोच्य या आलोचक नहीं रह जाता, अर्थात्, दृष्टि और दृश्य के संयोग से उत्पन्न अनर्थ से छुट्टी पा लेता है। दार्शनिकों के वर्जित मध्यवर्ती (एक्सक्लुडेड मिडिल) की विडंबना भी उसे रत्ती भर नहीं सालती। प्रकृति-दर्शन के लिए दृष्टि अनिवार्य है, सबके लिए सुलभ है, अत: सामान्य है, लेकिन प्रकृति के पार देखने वाली चेतना अतिरिक्त है। शिव की तीसरी आँख चेतना के इसी स्तर का प्रतीक है। इस आँख के खुलने पर सारे दृश्य ओझल हो जाते हैं, केवल उनका सारांश शेष रह जाता है। दर्शक होना या दृष्टिशील होना सामान्य है, द्रष्टा होना अतिरिक्त है। तृतीय नेत्र का खुलना द्रष्टा होने का प्रमाण है। दृश्य की छलना से अछूता रहने वाला मन ही द्रष्टाभाव का जनक होता है। तब, भौतिक आँखें नहीं देखतीं, पराप्रज्ञा की प्रभा देखती है और सब कुछ सौम्य, स्निग्ध, प्रशान्त प्रतीत होता है।

तीसरी आँख किसी दूर गगन की ज्योति-लतिका नहीं है, वह तो अपने ही आँगन की रजनीगंधा है जिसकी सुगंधि से हम जीवन भर वंचित रह जाते हैं। वह अपनी ही देह से लगी-सगी मांसल शिराओं के नाड़ी-गुच्छ की वीर्य-ऊर्जा है, अपनी ही सुषुम्ना में प्रवाहित अन्तर्गंगा के वीचि-विलास की काशी है। तीसरी आँख प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही विग्रह का पावन तीर्थ है। इसी स्थान पर चंदन-बिन्दु दिया जाता है ताकि व्यक्ति की चेतना में उसे अपनी अतिरिक्त सत्ता का निरन्तर बोध होता रहे। योगी लोग मस्तक प्रदेश में दोनों भौंहों के बीच इसका स्थान मानते हैं। यहीं मन, बुद्धि और अहंकार की त्रिकुटी है जिसे 'त्रिपुर' भी कहा जाता है। इसी स्थल पर विजय के कारण शिव को त्रिपुरारि कहते हैं। इसी स्थान पर ज्ञान-चक्षु की प्रतिष्ठा है जिसे तृतीय नेत्र की संज्ञा दी जाती है। इस स्थल के अधिपति शिव हैं। शरीर के इस केन्द्र को जाग्रत कर लेने पर जिस आनन्द की उपलब्धि होती है उसके आगे रूप-सौन्दर्य का आकर्षण व्यर्थ हो जाता है — "अरूपहार्यां मदनस्य निग्रहात्" (*कुमारसंभव*, 5, 53)।

यह तीसरी आँख का कौशल है कि लघुता में भी गरिमा का बोध भर जाता है और मन को अपने पार जाने की आज्ञा मिल जाती है। इसीलिए, मस्तक के इस बिन्दु को आज्ञा-चक्र कहा जाता है। आज्ञा का अर्थ संपूर्ण ज्ञान भी है जिसका स्वरूप ज्योति या अग्नि है। यहाँ अविद्या के सारे बीज भस्म हो जाते हैं और फिर कभी अंकुरित नहीं होते। अपने ही अन्तर में बृहत्तर की अनुभूति भर जाने से सहस्रार का शतदल ही नहीं मूलाधार का मृणाल भी मकरन्द से भर उठता है। तृतीय नेत्र के जागरण के क्षण में मिथ्या जगत् की स्वप्निल आकृतियाँ विलीन हो जाती हैं और अतिमानसिक आयाम में समाधि के अतीन्द्रिय आनन्द की कोमल-धवल दूर्वा अंकुरित हो जाती है जिसकी दूधिया हरियाली में सर्प के लिए भी संस्पर्श का मोहक आमंत्रण भरा रहता है।

तृतीय नयन का उन्मीलन दृश्य जगत् की कपाल-क्रिया है, प्रकृति के पंचत्व का लोप है, एकल निरपेक्ष सत्ता की आरती है। प्रकाश का, शून्य आकाश में विसर्जन ही आरती है। भौतिक जगत् में जिसे घृत-दीप की आरती कहते हैं उसे ही अंतर्जगत् की भाव-सीमा में तीसरी आँख का खुलना कहा जाता है। प्राण की तरंगें जब मूलाधार से उठकर आज्ञा-चक्र को छू लेती हैं तब तीसरी आँख खुल जाती है। लेकिन, यह सिद्धांत का नहीं संबोध का विषय है। 'आत्मदीपो भव' का मंत्र इस बात की ओर संकेत करता है। प्रकाश भौतिक जगत् की सूक्ष्मतक सत्ता है जो स्वयं नहीं दीखती, लेकिन सबको सब कुछ दिखा देती है। प्रकाश जब मन में विलीन होता है तब एक शब्दातीत सुख से प्राण पुलकित हो जाते हैं। तब मानस-लोक में एक अलौकिक ज्योति उभरती है। इसी ज्योति से ब्रह्म की आरती की जाती है। तृतीय नेत्र इसी आरती की लौ है। मन सामान्य है, मनसातीत की अनुभूति अतिरिक्त है। प्राणों की सिहरन सामान्य है, उसके निष्कंप स्रोत का बोध अतिरिक्त है। तीसरी आँख का खुलना इसी अतिरिक्त का आकाशदीप है, अनादि ब्रह्म के प्रति अंतर्मन की आरती है।

दार्शनिक आलोक में शिव की तीसरी आँख तत्त्व-समीक्षा की एक विधा है जिसे आधुनिक सन्दर्भ में तीसरी संभावना कहा जाता है। 'तीसरी

संभावना' का प्रश्न सदियों पुराना है। ग्रीक दर्शन ने इसे पूरी तरह नकार दिया था और केवल दो ही संभावनाओं को स्वीकृति दी थी — *तेर्तियुम नोन दातुर*, अर्थात्, तीसरी संभावना का प्रश्न व्यर्थ है। किसी वस्तु-सत्ता का अस्तित्व होगा या अभाव होगा, कोई तथ्य झूठ होगा या सच होगा, कोई वस्तु स्थिर होगी या गतिशील होगी, निकट होगी या दूर होगी और इन अतिवादी स्थितियों के बीच किसी तीसरी अवस्था का सवाल ही नहीं उठता है। लेकिन, वैदिक दर्शन ने आरंभ से ही तीसरी संभावना को स्वीकृति दी है। *ऋग्वेद* के नासदीय सूक्त के द्रष्टा ने इसकी बड़ी प्रामाणिक घोषणा की थी — "तब, अर्थात्, सृष्टि से पूर्व, न जीवन था, न मृत्यु थी, न दिन था, न रात थी, न धरती थी न आकाश था और न सत्य था, न माया थी। सर्वत्र केवल ऐसा कुछ गहन-गंभीर, गुप्त प्रकट था जिसे पता नहीं सृष्टि का रचनाकार भी जानता है या नहीं।" और, गहन हर्ष का विषय है कि जिस समय पाश्चात्य दर्शन तीसरी संभावना के प्रश्न से उलझा था उसके हजारों वर्ष पहले भारतीय मनीषा ने चतुर्थ आयाम का उत्तर प्रस्तुत कर दिया था और प्रकृति के तीनों गुणों से परे जाकर उस परम सत्य की साक्षात् अनुभूति का प्रस्ताव रख दिया था। श्री कृष्ण ने गीता में इसकी ओर स्पष्ट संकेत दिया है —

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देह समुद्भवान्,
जन्म मृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।

(*गीता*, XIV, 20)

ऋग्वेद में तीसरी संभावना का एक तिर्यक् संकेत है जिसे 'त्रित आप्त्य' कहा गया है। परवर्ती व्याख्याकारों ने इसे देवता-तत्त्व की कोटि में रखकर चुप्पी साध ली है। शास्त्रीय समीक्षा की कुछ ऐसी विडंबना रही है कि एक विराट अन्तर्दृष्टि की दार्शनिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा कर बार-बार किसी गुरुतर संधारणा को मात्र एक धार्मिक पवित्रता के आवरण से ढँक दिया गया है। ऐसी स्थिति में आदिम प्रतीकों में दबे बिंब निष्प्राण हो जाते हैं। वैसे, त्रित आप्त्य के देवता-तत्त्व होने में किसी आपत्ति का प्रश्न नहीं है, लेकिन यह स्मरण रखना जरूरी है कि देवत्व मनुष्यता की ही उत्तर दशा है। देवत्व

सामान्य चेतना के स्वयं से ऊपर उठने की प्रक्रिया है, आत्म-सत्ता का सर्वव्यापी संबोध है और मनुष्य जीवन का ही अन्तर्निहित काम्य है। अतः, त्रित आप्त्य केवल किसी बाह्य तत्त्व की उपासना का नहीं, बल्कि स्वयं की उपलब्धि का विषय है। इसका अर्थ है — त्रिगुण वृत्तियों की सीमा का अतिक्रमण, द्वैत के दुर्द्धर्ष प्रवाह का पारगमन और व्यक्ति की चरम उपलब्धि में बाधा उत्पन्न करने वाले व्यामोह का विलयन। सही परिप्रेक्ष्य में, त्रित आप्त्य किसी देवता की संज्ञा नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण ज्ञान का संज्ञेय है। यह किसी उपाधि का विधेय नहीं, बल्कि समाधि का श्रेय है। यह किसी संकुचित संधारणा का ध्येय या स्थूल की उपासना का भृत्य-भाव नहीं, बल्कि प्रत्येक पुरुष की अमन्द साधना का अन्तिम सत्य है। त्रित आप्त्य तात्त्विक विश्व के ऊर्ध्वमंडल में प्रवेश की विधा है। भगवान कृष्ण ने *गीता* में इसी ओर इंगित किया है। उनका कथन है कि संपूर्ण विश्व त्रिगुण प्रकृति का लीला-विस्तार है। जो इससे मुग्ध होकर स्वयं को मोह-कारा का बन्दी बना लेता है वह परम अव्यय तत्त्व के परिचय से वंचित रह जाता है —

त्रिभिर्गुणमयैर्भावै, एभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति, मामेभ्यः परमव्ययम्।।

(*गीता*, VII, 13)

त्रित या तृतीय की प्राप्ति को ऋषियों ने अनेक प्रतीकों के रूप में व्यक्त किया है। कहीं वह इन्द्र का वाचक है, कहीं सबका वहन करने वाले पवन का वाहक है और कहीं-कहीं ऊर्ध्वगामी अग्नि-शिखा का पर्याय है। इस गूढ़ संधारणा को साधारण व्यक्ति की समझ से जोड़ने के लिए दैनन्दिन जीवन की स्थूल प्रस्तुतियों में बाँधने का प्रयास किया गया है। वेदों की भाषा जितनी अस्पष्ट है उनके भाव-तत्त्व का विन्यास उतना ही पारदर्शी है। यही कारण है कि देवता-तत्त्व को भी बन्धु-बान्धव, पशु-पंछी और नदी-पर्वत तक के कथा-सूत्र में पिरो दिया गया है और लगता है जैसे कोई मुनि-महर्षि नहीं, बल्कि स्वयं प्रकृति जीवन के उदात्त सत्य की कहानी कह रही है। त्रित के रहस्य को भी एक ऐसे जीवन्त यात्री के रूप में चित्रित किया गया है

जो एक बार कुएँ में गिर पड़ता है। बृहस्पति संयोगवशात् उसी राह से गुजरते हैं और त्रित की पुकार सुनकर उसे बाहर निकालते हैं (देखिए, *तै० सं०* I, 8,10,2; *अथर्व०* I, 113,1,3; *ऋग्०* VIII, 47, 16; V, 18,2)। इसी सन्दर्भ में तीन विप्र-बन्धुओं की कथा आती है। किसी कारण दो भाई आपस में मिल जाते हैं और तीसरे (त्रित) को कूप में ढकेल देते हैं। वेदों और संहिताओं में ऐसे विवरणों की बाढ़-सी है जो ऊपर से भोथर, भदेस लगते हैं, लेकिन थोड़ी-सी धूल झाड़कर देखें तो उनके नीचे अध्यात्म के ऐसे मणि-बिन्दु दिखाई देते हैं जिनमें दर्शन के व्योमचुंबी शिखर झाँकते हैं।

समीक्षा की दृष्टि से 'त्रित-आप्त्य' चेतना के उच्चतर स्तर पर कार्य-कारण की श्रृंखला के उस पार जाने की प्रक्रिया है। मनुष्य की अन्तिम उपलब्धि तीसरी संभावना के पार निकल जाने में ही निहित है। एकत्व की विरसता सालती है, द्वैत की मायावी छवियाँ बाँधती हैं और यह पकड़ इतनी जोरदार होती है कि तीसरी संभावना का प्रश्न उभर ही नहीं पाता। यही त्रित का कूप में गिर जाना है। अविद्या, अज्ञान और मोह के जटिल फैलाव में मनुष्य की आत्मा का सूर्य डूबा रहता है। लेकिन, जब अपनी सत्ता से पृथक् रहने की पीड़ा जागती है और आत्म बोध की संभावना करुण स्वर में पुकारती है तब ज्ञान के अधिपति बृहस्पति उसे बाँह पकड़कर खींच लाते हैं। इन्द्र-शक्ति से प्राण ऊपर उठते हैं, चैतन्य ज्योति की दीपशिखा जलती है और मन अपनी सीमा से बाहर उत्तरमानस की पृष्ठभूमि में प्रवेश करता है। तब द्वैत का दुनिर्वार असमंजस बिखर जाता है और मन माया का अतिक्रमण कर उस परम-पद का आलिंगन करता है जिसके बारे में गीता कहती है-

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमांगतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

(*गीता*, VIII, 21)

बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही भारतीय मनीषा की दिव्य दृष्टि धूमिल पड़ने लगी। वैदिक दर्शन की विस्मृति ने वैचारिक पतन का मार्ग खोल दिया। फिर सांस्कृतिक पराधीनता का दौर शुरू हुआ और पाश्चात्य विचारों

की आँधी में भारतीय दर्शन की उदात्त संधारणायें सूखे पत्तों की तरह बिखर गईं। विराट सत्य के रहस्य पर द्वैत की दीवार तभी खड़ी हो गई जब देकार्त ने मन और पदार्थ की ध्रुवीय भिन्नता के आधार पर तत्त्व-दर्शन की दिशा ही बदल दी। तब सत्य हाँ-ना, गलत-सही, रात-दिन, अच्छा-बुरा और श्वेत-श्याम आदि अलग-अलग खानों में बँट गया। अर्थात्, जो सच है वह झूठ नहीं हो सकता, दिन की रोशनी में रात के तारे नहीं होते, जो गोरा है, वह काला नहीं हो सकता और जो अच्छा है उसमें बुराई का रंचमात्र भी नहीं रह सकता। वस्तुत:, यह एक ईसाई धारणा है जो व्यक्ति को द्वैत के वृत्त में बाँध देती है। देकार्त का मानना है कि चूँकि, विचार उठते हैं, अत: उनके लिए एक विचारक का होना अनिवार्य है। इससे सिद्ध होता है कि विचारक और कुछ नहीं विचारों का एक पुंज मात्र है। इसी मान्यता से वेदान्त की उपेक्षा आरंभ हो गई और भारतीय दार्शनिक विचारों के अतिक्रमण का व्याकरण भूल गए। ऐसी स्थिति में वैदिक ऋषियों के आत्म-तत्त्व की समीक्षा भी तीसरी संभावना के जाल में उलझ कर रह गई।

इसी बीच पश्चिम से बुद्धिवाद की लहर उठी और वैज्ञानिक चिन्तन सारे विश्व में ऐसे छा गया जैसे जो कुछ विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरे उसे सत्य मानना कोरी मूर्खता हो। न्यूटन ने निरपेक्ष की वन्दना की। आईन्स्टाइन ने सापेक्ष की आरती उतारी। यहाँ तक कि वैज्ञानिक परिदृश्य में भी 'वर्जित मध्यवर्ती' की पुकार अनसुनी रह गई और उस सन्धि-बिन्दु के रहस्य पर स्याही गिर गई जिसके अन्तराल से सत्य की ज्योति बिखरती है। ऐसे में तीसरी संभावना की सुगबुगी भी दबी रह गई। लेकिन, दार्शनिकों के मन में कहीं कुछ चुभता रहा कि सृष्टि का सत्य न घने अंधकार में छिपा है और न वह तीव्र प्रकाश के चकाचौंध में दिखाई देता है, बल्कि कहीं गोधूलि के मिश्रित आलोक में या चाँदनी के शुभ्र-नील आवरण में लिपटा रहता है। इसी अर्द्ध-पारदर्शिता के सान्ध्य गगन से तीसरी संभावना के स्वर उठते हैं। इन स्वरों की पहचान का प्रश्न तब उठा जब वैज्ञानिक विचारणा एक बृहत्तर आयाम में प्रवेश करने लगी थी। बीसवीं सदी में क्वांटम यांत्रिकी के उद्भव ने मूल-कणों की जड़-प्रकृति पर ही सन्देह की मुहर लगा दी और निर्जीव

पदार्थ के भीतर प्राण के लक्षण दिखाई देने लगे। स्थूल दृष्टि से सामान्य द्रव्य के भीतर प्राणिक स्पन्दन का आभाव नहीं मिलता, लेकिन जैसे-जैसे उसकी सूक्ष्मतर अवस्थाओं के कपाट खुलते हैं, पदार्थ की सघन जड़ता के अन्तस् में दबी चेतना सहसा अपनी उपस्थिति का आभास देने लगती है और प्रकृति के गर्भ-प्रदेश से संकेत मिलता है कि समस्त जगत् में कुछ भी प्राणहीन नहीं है। देकार्त ने मन और शरीर या प्राण और पदार्थ को एक-दूसरे से नितान्त भिन्न मान लिया था और इसी द्वैत के आधार पर विज्ञान विकसित हुआ। लेकिन, नूतन भौतिकी के सन्दर्भ में यह मूलभूत संकल्पना ही घास चूमने लगी है और आधुनिक विज्ञान ने पुन: वेदान्त के दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखना आरंभ कर दिया है। अन्तिम उत्तर की प्रतीक्षा अभी शेष है।

भौतिकी के नोबेल पुरस्कार विजेता हाइजेनबर्ग के अनुसार सबकुछ अनिश्चय के आवर्त में डूबा है, कणों को अन्तिम रूप से परिभाषित करना बड़ा कठिन है और सत्य की पहचान 'प्रायिकता' की पृष्ठभूमि पर ही संभव है। इसका निष्कर्ष यह है कि असंभव कुछ भी नहीं है। क्वांटम यांत्रिकी कहती है कि यह भी संभव है कि एक अनपढ़ अनाड़ी बन्दर पूरी बाइबिल का टंकण कर दे। प्रायिकता इस बात की भी है कि विशाल समुद्र में स्याही की मात्र एक बूँद घुल जाय और उसे पुन: पहले जैसे रूप में प्राप्त कर लिया जाय। असंभव यह भी नहीं है कि किसी लेखक की उँगलियों में दबी कलम अचानक साँप बनकर फुफकारने लगे या उसकी कुर्सी के साथ कुछ ऐसा जादू हो जाय कि वह बाघ बनकर झपट पड़े। सभी जानते हैं कि ऐसा कुछ होता नहीं है और शायद मनुष्य के स्वल्प जीवनकाल में ऐसा संभव भी नहीं है। प्रायिकता के सिद्धान्त के अनुसार होने को कुछ भी हो सकता है, लेकिन ऐसी अप्रत्याशित घटनाओं की प्रायिकता इतनी क्षीण होती है उनके घटित होने के लिए अनन्त काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सबसे बड़ी पीड़ा है कि जीवन थोड़ा है और ब्रह्मांड अनन्त है। अत:, सापेक्ष दृष्टि से जो कुछ जैसा है उसका वैसा होना ही सत्य है। फिर भी, प्रत्येक सीमा के भीतर अनन्त का आमंत्रण तो छिपा ही रहता है। यही तीसरी संभावना का मूल स्वर है। इस स्वर में भोर की गुलाबी वेला का कलरव भी है, भयावह रात के

दु:स्वप्न की प्रेत-चीत्कार भी है, पानी के परमाणु-पर्व से धू-धू उठती आग भी है और पवन के प्राण-रन्ध्र में सुर-सुर भरता पराग भी है, धरती के विषाक्त वायु-मंडल का जहर भी है और आकाश में उठती मधुर-कोमल ध्वनियों की लहर भी है।

क्वांटम यांत्रिकी देकार्त के चिन्तन से उत्पन्न विरोधाभास है। विरोधाभास किसी सिद्धान्त के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्त है, किसी स्वीकृत प्रमेय के अन्तर्मंथन का परिणाम है और किसी साध्य की विलोम उपपत्ति है। लेकिन, स्मरणीय है कि केवल विरोधाभास के किसी बौद्धिक संत्रास का निराकरण संभव नहीं है। सच कहा जाय तो संपूर्ण देकार्तियन मानसिकता ने मनुष्यता को बड़ा भ्रमित और विषाक्त किया है। सन्देह पर सन्देह के सोपान बन जाते हैं, लेकिन सत्य की प्राप्ति तो दूर उसका पाद-स्पर्श भी नहीं हो पाता है। उत्कंठा उठती है, रहस्य में डूब जाती है, जिज्ञासा अंकुरित होती है, विस्मय में विलीन हो जाती है, शंकायें सिर उठाती हैं, छद्म विश्वास के अंक में सो जाती है और प्रश्न प्रस्फुटित होते हैं, मिथ्या समाधान की सीढ़ियों पर फिसलते हुए निरुत्तर मौन के विस्तार में खो जाते हैं। ऐसी स्थिति में, मनुष्य केवल अपने ही अन्तर्द्वन्द्व का मूल साक्षी हो जाता है और जब कभी कुछ कहता है, उसका सारा चिन्तन वैखरी का वितान बन कर रह जाता है। फिर, दर्शन की इस दारुण नियति से मुक्ति का मार्ग क्या है? यदि विस्मय और रहस्य के बीच झूलते रहना ही तत्त्व-समीक्षा का लक्ष्य है, पदार्थ की तदर्थ उपाधियों पर बन्दर की तरह कूदते रहना ही उपलब्धि है तो फिर सत्य क्या है? ध्यातव्य है कि देकार्त ने दुविधा की पृष्ठभूमि को ही अस्तित्व का पर्याय समझ लिया और "मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है" जैसे अपक्व वाक्य को ऐसे उछाल दिया जैसे यह कोई जपनीय मंत्र हो।

पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान ने देकार्त की घोषणा को पूर्ण सत्य की तरह स्वीकार कर लिया। इसके परिणाम घातक सिद्ध हुए। मनुष्यता जब कभी किसी छिछली अवधारणा को जीवन की नियामक विधा के रूप में स्वीकृति देती है तब एक विनाश की सूक्ष्म संभावना जन्म लेती है। यही कारण है कि पश्चिम ने उपभोक्ता संस्कृति ('महाजनी सभ्यता' कहना

अधिक समीचीन होगा) को अपना धर्म समझ लिया, लोगों ने स्वयं को चार्वाक की संतति समझने में विशेष सुख माना, धन जीवन का साध्य बन गया और समाज से मानवीय सुगंधि दिनों-दिन उड़ती चली गई। दुर्भाग्य से भारतीय दार्शनिकों ने भी जमकर पश्चिम का अनुकरण किया। आज का भारतीय समाज पराधीन मानसिकता का जीवन्त उदाहरण है। दूसरी ओर, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी यांत्रिकता ने ऐसी जड़ें जमा लीं कि निर्वाण का पंथ खो गया, सात्त्विक जीवन-शैली की मर्यादा गिर गई, आंतरिक संत्रास से मुक्ति का मंत्र व्यर्थ हो गया, प्रकृति का दोहन आरंभ हो गया, प्रदूषण की बाढ़ आ गई और पुण्य-गंधा पृथ्वी निष्प्राण, निर्गन्धा मृदा में रूपान्तरित हो गई। इतना सब अचानक नहीं है। इसके पीछे एक दिशाहीन दर्शन की भूमिका है।

गहराई से देखें तो द्वैत को भारतीय ऋषियों ने इसीलिए दुत्कार दिया कि मनुष्य की स्वयं से ऊपर उठकर स्वयं को एक सर्वांगीण सत्य के रूप में स्वीकार करने की संभावना बनी रहे। केवल अपने विचारों से ही अपना अस्तित्व नहीं है, बल्कि विचारों से परे भी कुछ है जो स्वयं विचारों का जनक है। यही तीसरी संभावना का सत्य है, तीसरी दृष्टि का परिदृश्य है, तुरीया का विचारातीत तल है। सतही दृष्टि से द्वैत यथार्थ है, क्योंकि इसका संबंध सीधे इन्द्रियों से है, लेकिन यह कोरा भ्रम है कि जो यथार्थ है वही सत्य है। बीसवीं सदी के आरंभ में ही '23 मार्च 1900' को फ्रांसिस्को अमेरिका के अपने एक भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने देकार्त की दिङ्मूढ़ संधारणा पर प्रच्छन्न प्रहार करते हुए कहा था — ''किसी के विचार या उसके सोचने की क्षमता को ही उसके अस्तित्व का प्रमाण मान लेना निहायत गलत है, क्योंकि विचारों की सत्ता स्वतंत्र नहीं है, उनका नियमन और नियंत्रण किया जा सकता है। दीर्घ अभ्यास और ध्यान की प्रक्रिया द्वारा विचार-शून्यता उपलब्ध की जा सकती है। समाधि की स्थिति में मन का विचलन नहीं होता, किसी विचार का स्फुरण नहीं रहता, रुधिर की गति रुक जाती है ओर साँसे ठहर जाती है। लेकिन, तब भी मनुष्य मरता नहीं है, उसकी सत्ता समाप्त नहीं होती, उसके अस्तित्व का अन्त नहीं होता।''

शरीर की अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है, पदार्थ का निरन्तर क्षरण होता रहता है, मन सदैव चंचल रहता है, विचार आते-जाते रहते हैं, लेकिन इन सारे रूपान्तरणों के पीछे एक अक्षुण्ण सत्ता वर्तमान रहती है जो न बनती है न बिगड़ती है, जो न जन्म लेती है न मरती है और न चलती है न बदलती है। तीसरी संभावना इसी चिरन्तन सत्ता की ओर संकेत करती है। मन और देह दोनों प्रकृति के उपादान हैं, अतः वे प्राकृतिक नियमों की अवहेलना नहीं कर सकते। फिर भी, मनुष्य के भीतर आत्म-तत्त्व की एक अमृत-धारा बहती है जो वैचारिक श्रृंखला को भौतिक धरातल से गुजरने के लिए बाध्य करती है। समाधिस्थ चित्त में विचारों का कोलाहल नहीं होता। वस्तुतः, विश्व-रचना की ऐसी अनेक स्थितियाँ हैं जिनमें विचार उठने जैसी किसी क्रिया का होना संभव नहीं लगता। ऐसी प्राण-संस्थायें या पदार्थ-संहतियाँ 'अविचार' की स्थिति में रहती है। वैसे, अस्तित्व उनका भी होता है। दूसरी अवस्था 'विचार' की होती है जहाँ चेतना वाणी द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य पशु, पंछी आदि सभी होते हैं, लेकिन, मनुष्य की एकमात्र विशेषता है कि वह मन के पार जा सकता है, विशुद्ध ज्ञान का साक्षी बन सकता है और ऐसी चित्तभूमि में प्रवेश कर सकता है जहाँ विचार उठते ही नहीं। मनुष्य जाति का तबतक कोई अर्थ नहीं रहता जबतक वह विचार की सीमा पार कर 'निर्विचार' की आनन्दभूमि में अवस्थित होना नहीं जान लेती, क्योंकि मनुष्य का मात्र विचारों से बँधकर ऐन्द्रिक धरातल पर ठहरे रहना पशुत्व से जुड़े रहने जैसा है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर देवत्व की संभावना निहित है जो तभी सार्थक होती है, जब संयम से, सात्त्विक ऊर्जा से या पवित्र संस्कार के प्रताप से वह विचारों के स्रोत का अतिक्रमण करता है, कैवल्य-बोध से संतृप्त रहता है और निर्विकल्प चित्त के अच्युत आनन्द का पुंज बन जाता है। स्वामी विवेकानन्द इसी निर्विचार अवस्था की ओर संकेत करते हैं, जहाँ विचार नहीं होते फिर भी अस्तित्व होता है। वैसे, पाश्चात्य दर्शन के पेट में यह बात जल्दी पचती नहीं है, लेकिन भारतीय संस्कार के लिए यह प्रयोग-सिद्ध अवधारणा है। सत्य के साक्षी के लिए किसी अन्य प्रमाण की जरूरत भी नहीं होती।

महर्षि अरविन्द के अनुसार ''विचार ज्ञान का मूल नहीं माध्यम है जो जड़-सृष्टि को परम चैतन्य से जोड़ने के लिए जरूरी है''। विचार ज्ञान द्वारा अज्ञान को दिया गया ऋण है जिसके उपयोग से विचार-सम्पन्न प्राणी ज्ञान की पूँजी अर्जित करने का प्रयास करता है, लेकिन अन्ततः जब व्याज पर व्याज देना पड़ता है तब इस उधार के प्रति उसका मोहभंग हो जाता है और लगता है विचारों द्वारा ज्ञान की उपलब्धि बड़ी महँगी है, और शायद, संभव भी नहीं है। ऐसी स्थिति में विचार व्यर्थ प्रतीत होते हैं। उन्हीं के शब्दों में ''अस्तित्व के लिए विचार अनिवार्य नहीं है और न ही वह अस्तित्व का कारण है'' (श्री अरविन्द पुस्तक-संग्रह ग्रन्थावली, *अतिमानसिक अभिव्यक्ति*, अध्याय 16, पृ० 378)। विचार 'अस्ति' का पर्याय नहीं है, 'भवति' की भाव-प्रेरणा है। विचार मात्र 'होने' की संज्ञा नहीं है, सब जगह कहीं कुछ होते रहने का सर्वनाम है, यह बाह्य सत्ता का साध्य अवश्य है, आन्तरिक इयत्ता की सिद्धि नहीं है। वस्तुतः, जिसे हम विचार कहते हैं वह अस्तित्व का विकार है, अस्तित्व का स्फुरण है, चित्त-वृत्ति का उपकरण है और मन के अपने पार जाने की विधा है, लेकिन विचार स्वयं अस्तित्व नहीं है। विचार भूत की स्मृति-यात्रा है जो भविष्य के द्वार पर बार-बार दस्तक देती है। मनुष्य का कोरा भ्रम है कि विचार उसके मन में उठते हैं। ''ऋषियों ने ध्यान के अलौकिक क्षणों में प्रज्ञा के आलोक में विचार की सूक्ष्म तरंगों का उठना-गिरना और डूबना-उबरना देखा था। उनका निश्चित मत है कि वे अक्षर आकाश के विक्षोभ की लहरें हैं जो पराव्योम से उदित होती हैं और मनुष्य के मस्तिष्क-तन्तुओं से टकराती हैं। मन उन्हें ग्रहण करता है और अपने स्थानीय क्षेत्र की क्षमता के अनुरूप या चेतना के धरातल के अनुसार उनका विश्लेषण करता है।''

यही पराव्योम अस्तित्व का पर्याय है। वैदिक मनीषा इसे चेतना का 'ऊर्ध्व-सिन्धु' कहती है। यही माधवी सलिल का प्रशान्त विस्तार और आनन्दमयी चेतना का अनन्त आकाश है। इसे निःसीम गगन की छान्दस् वीचियाँ विचारों के रूप में सर्वत्र विचरण करती हैं। कोई मन उन्हें पकड़ता है, देखता है और छोड़ देता है। कोई मन उन्हें ग्रहण करता है, परखता है और आत्मसात कर लेता है। एक ही विचार-तरंग विभिन्न मानसिक संरचनाओं

के कारण अलग-अलग प्रभाव उत्पन्न करती है। निर्भर करता है, मनुष्य के मस्तिष्क की तन्तु-प्रणाली किस तरह विश्व-मानस के संकेतों से 'ट्यून्ड' है। मनुष्य को जब तक लगता है कि वह विचारों का रचयिता है और उसने कोई नई खोज कर ली है तब तक विचारों के बुलबुले फूट जाते हैं और एक प्रतिध्वनि गूँजती रह जाती है — "बन्धु, तुम किसी विचार के जनक नहीं हो, मात्र एक बृहत्तर ज्ञान-सत्ता के जातक हो। तुम किसी प्रकाश की पितृ-संस्था नहीं हो केवल किसी छाया-प्रान्त के प्रतीक हो। तुम सृष्टि-रचना के सूत्रधार नहीं हो, स्रष्टा नहीं हो, नियति के अदृश्य तार से बँधे नर्तक हो। तुम अनन्त विचार-श्रृंखला के नियन्ता या निर्धारक नहीं हो, बल्कि एक संगणक की तरह किसी अमित विचार-योजना के सीमित धारक भर हो। तुम स्वयं अपनी सत्ता के निर्णायक नहीं हो मात्र एक क्षुद्र निर्धार्य हो।" महर्षि अरविन्द इसे अपनी अनूठी आध्यात्मिक शैली में व्यक्त करते हैं — "परात्पर शान्ति के अन्तराल में, अगाध मौन की निःशब्द पूर्णता में भौतिक चित्त और यांत्रिक मन का अस्तित्व अस्त हो जाता है। चेतना के उच्चतर धरातल से या उत्तर-मानस के विरल प्रदेश से ज्ञान उतरता है जो साधारण मन में संवेदना की झंकृति उत्पन्न करता है और मनुष्य का मस्तिष्क धूमिल संधारणाओं के वायुमंडल से भर जाता है। इन अस्त-व्यस्त और अशान्त अनुभूतियों के पटल पर एक स्पष्ट, उद्देश्यपरक विद्युत-रेखा-सी चमक उठती है जिसे हम विचार के रूप में परिभाषित करते है" (*लेटर्स ऑन योग*, अध्याय 22, पृ० 329-30)। वस्तुतः, मनुष्य का मन ज्ञान का जनक नहीं उसकी अभिव्यक्ति का उपकरण है। अन्तश्चेतना पर सत्य की एक छाया पड़ती है, आत्मबोध की कोई स्मृति तात्कालिक यथार्थ का स्पर्श करती है, अनन्त का कोई आभास क्रियात्मक प्रकाश में परिणत होता है और इसी प्रक्रिया को मन में विचार का उठना कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान और क्रिया के सन्धि-बिन्दु पर इच्छा की प्रतिष्ठा मानी जाती है और यही इच्छा मनुष्य के चित्त की प्रकृति के अनुरूप निरन्तर विचारों को जन्म देती रहती है। *ऋग्वेद* में इसे 'काम' कहा गया है। 'काम' विश्व-रचना का प्राथमिक बिन्दु है जिसे जैविक सन्दर्भ में 'रेतस्' के रूप में

अभिहित किया जाता है। विचार इसी विश्व-रेतस् की संतति है। जल की लहरों में, पवन की सिहरन में, आकाश की शब्द-सृष्टि में, सूर्य की संज्ञा में, चन्द्रमा की सुधा-वृष्टि में, धरती की पुण्य-सुगंधि में, पत्थर की परमाणु-संरचना में, पेड़ों की जड़ों के रस में, प्राणों के आकुल स्वर में और जड़-चेतन सबके अन्तर में काम का अनवरत संचार होता है। यह काम-शक्ति मन को प्रतिपल किसी-न-किसी प्रलोभन की ओर खींचती रहती है और विचारों के महाजाल में फँसा मनुष्य स्थैर्य के आनन्द से वंचित रह जाता है। जो स्वयं अपने को नहीं खोज पाता वह विपुल पदार्थों की छलना में अपनी छाया देखकर दौड़ता रह जाता है और समाधि के सुख की परिभाषा मोह के धुन्ध में ढँकी रह जाती है। काम मनुष्य को कहीं का नहीं रहने देता।

कभी सुनहली कल्पनाओं की आँधी में, कभी मांसल बिंबों के बवंडर में, कभी धूर्त्त संधारणाओं के आवर्त्त में, कभी छद्म-तृप्ति की आकांक्षाओं में, कभी ऐन्द्रिक गुदगुदी की संभावनाओं में, कभी मधुर-मधुर ऊष्मा के अन्तराल में, मदान्ध छलनाओं के क्षणिक उछाल में और कभी वैचारिक विपर्यय के ऊहापोह में पागल मन अविराम भटकता ही रहता है। जीवन भर मनुष्य को कभी वह शान्ति नहीं मिलती जिसके लिए चित्त इतना आकुल रहता है, कभी मन को वह सुख नहीं मिलता जिसके लिए देह को क्या-क्या दुःख देखना पड़ता है, कभी उस अमृत-तृप्ति की अनुभूति नहीं होती जिसके लिए प्राण इतने प्यासे रहते हैं, कभी उस आनन्द-सुधा का स्वाद नहीं मिलता जिसके लिए तन्मात्रायें तितली की तरह चंचल रहती है और कभी उस चिन्मय वपुष् के दर्शन नहीं होते जिसके लिए आँखें जनम भर कितनी रूप-रचनाओं की ओर आतुर निहारती रह जाती हैं। कितने पराजित लालसा के स्वर में मैथिल कोकिल अपनी पीड़ा व्यक्त करते हैं —

जनम अवधि हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भेल।
लाख-लाख जुग हिए हिय राखनु,
तइयो हिय जुड़न न गेल।

यही काम की लीला है। यही ऐन्द्रिक संवेदनाओं का संत्रास है। यही माया-नटी का नग्न-नृत्य है। यही उर्वशी का विलास आमंत्रण है। कितने दुराद्धर्ष आकर्षण से भरी चुनौती है तपस्वी विश्वामित्र के सामने — "ध्यान की कल्पना का भ्रम छोड़ो, आँखें खोलो और देखो महर्षि, इस अप्सरा की निर्वस्त्र देह, कदली-स्तंभ की तरह ज्योति-संपृक्त त्वचा की स्निग्ध मुस्कान, रक्त-पाटल की पंखुरियों से रचित स्वर्ग-द्वार का उत्तेजक दृश्य, मुट्ठियों में सिमट जाने वाले माधुर्य की तरह कटि-प्रान्त, काम की लहरों जैसी त्रिवली, कामनाओं की गर्त्त जैसी नाभि, पूर्ण सौन्दर्य के वर्त्तुल बिंब की तरह मांसल उरोज, चिबुक के अर्द्ध-चन्द्र, अमृत-फल की लाल फाँक की तरह रसमय अधर, प्राण-पल्लव से निर्मित नासिका, अदृश्य की सुन्दर परिभाषा पर मधुर कटाक्ष जैसी आँखें और आँखों में अन्तिम अबाध सुख का सुरम्य आश्वासन आओ लो ऋषिवर, अपनी घनघोर तपस्या का फल, जितना चाहो, जब तक..।" लेकिन, आखिर कितना और कब तक? पतन के मार्ग का प्रलोभन बड़ा दुर्निवार होता है। यह सभी जानते हैं, सोचते भी हैं, लेकिन बचता कौन है? और परिणाम? सारा ध्यान-प्रपंच, सब लोटा-बटुआ का ढोंग व्यर्थ हो जाता है, सारी तपस्या राख में मिल जाती है, सारी तेजस्विता काली पड़ जाती है और महर्षि सीमाओं के मूर्त्त सौन्दर्य से मुग्ध होकर उस बृहत्तर आनन्द-कोष की महिमा भूल जाते हैं जिसके रस की एक बूँद से संपूर्ण आकाश में उल्लास की लहर उठती है।

पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जहाँ अप्सराओं की एक हलकी-सी मुस्कान ऋषियों की कठोर तपस्या का मूल्य चुका देती है। अपनी नर-लीला के प्रकरण में राम भी सीता के संकेत पर स्वर्ण-मृग के पीछे दौड़ पड़ते हैं। जब सिद्ध ऋषियों और अवतारी पुरुषों को भी इन्द्रिय सुख का आकर्षण एक बार विचलित कर जाता है तब साधारण व्यक्तियों की बात बड़ी छोटी है। काम की शक्ति अद्भुत और प्राय: अजेय है। शिव ही एक ऐसे देवता हैं जिसने आगे सांसारिक राग-अनुराग के अभिनय, क्षणिक विषयों के आवेग और चटुल इच्छाओं के उद्वेलन व्यर्थ हो जाते हैं। प्रकृति के व्यापार तो चलते ही रहते हैं, लेकिन शिव अपनी समाधि में ऐसे लीन रहते हैं जैसे नन्हीं-नन्हीं

मछलियों की छटपटाहट से समुद्र आन्दोलित नहीं होता। शिव ब्रह्म-सुख की परिभाषा के मूर्त्त प्रतीक हैं — प्रशान्त पूर्ण और पवित्र आनन्द के साक्षी, लेकिन काम का दर्प उनकी भी परीक्षा लेता है।

गंध-मादन शैल पर शिव समाधि के शब्दातीत आनन्द में डूबे हैं। देवताओं के स्वर्ग पर संकट का समय है। वे अपने स्वार्थ के लिए कामदेव से निवेदन करते हैं कि वे शिव के मन में संभोग की लालसा उत्पन्न करें ताकि उनकी सन्तान राक्षसों से स्वर्ग छीन कर पुनः देव-समुह को लौटा दे। कामदेव को पता है कि शंकर को समाधि से विचलित करने में खैर नहीं है। फिर भी, वे देवताओं के स्वार्थ को परमार्थ की संज्ञा देकर अपने पुरुषार्थ का परिचय देने चल पड़ते हैं। वे पूरी तैयारी से सारी प्रकृति में असाध्य उद्दीपन का संचार करते हैं। शिव के स्थानीय परिवेश में तो जैसे वासन्ती सिहरन की अरुणिम उत्तेजना का ज्वार उठने लगता है। आकाश की शिरायें मधुर छन्दों से भर जाती हैं। वनस्पतियों में आदिम लालसा की तीव्र झंकार उठती है, वनान्तर में कलियाँ चटकती हैं, पुष्प-संभार से विनत लतायें वृक्ष-पुरुष का चुंबन करती हैं और सम्पूर्ण वातावरण में मदान्ध सुगन्धि का उत्सव आरंभ हो जाता है। कोयल अपना स्वर देती है, भ्रमर अनुगुंजन देते हैं, पंछी कलरव देते हैं, निर्झर गद्-गद् नाद का गंधर्व-संगीत देते हैं, पवन प्राणों का रस देता है, पानी प्रसन्न उच्छ्वास की लहर देता है और धरती जैविक अंकुरण का आश्वासन देती है। सारी प्रकृति किसी रूपसी अप्सरा के प्रथम अभिसार की मूर्त्त व्यंजना बन जाती है। समस्त दृश्य विस्तार में स्वप्निल बिंबों के इन्द्रधनुष खिल जाते हैं और आगत के भुजबन्ध में कल्पना के अक्षत कौमार्य की थर्राहट सिमट आती है।

समस्त सृष्टि-रचना के गोपन अंगों का इतना नग्न-निर्बन्ध उद्‌घाटन, नारी-पुरुष, पशु-पंछी, कीट-पतंग, लता-तरुवर, नदी-ताल सबके भीतर 'मदन-अभिलाषा' का इतना उद्धत अतिरेक, कण-कण में वासना की इतनी मृदंग मादकता, मोहक ऋतु-रंग की पृष्ठभूमि में रति का इतना उन्मुक्त आमंत्रण और 'ज्ञात-स्वाद' के समक्ष 'विवृत्त-जघना' का इतना आतुर समर्पण कि कहीं कुछ भी काम-क्रीड़ा की लालसा से निर्लिप्त नहीं रहता। गोस्वामी

तुलसीदास के शब्दों में — ''धर्म और धैर्य, ब्रह्मचर्य और स्थैर्य, योग और विराग, विज्ञान और विवेक सभी भयभीत होकर भाग जाते हैं। सद्ग्रन्थ पर्वत की गुफाओं में छिप जाते हैं। सारे चर-अचर जीवों के सिर पर काम की ऐसी मदिरा सवार होती है कि अपनी मर्यादा का बोध लुप्त हो जाता है, समय-असमय की बात बिसर जाती है और दिन-रात का भेद भी भूल जाता है। योगी-सिद्ध, मुनि-विरक्त सभी काम के वशीभूत हो जाते हैं, देव-दनुज भी वंचित नहीं रह पाते और प्रेत-पिशाच तो अपनी अघोर शैली में इतने रति-आसक्त हो जाते हैं कि काम-सूत्र की संहिता छोटी पड़ जाती ह'' —

सब के हृदयं मदन अभिलाषा
लता निहारि नवहिं तरु शाखा।
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई,
संगम करहिं तलाव तलाई।
पशु-पंछी नभ जल थल चारी,
भए कामबस समय बिसारी।
मदन अंध व्याकुल सब लोका,
निसि-दिन नहिं अवलोकहिं कोका।
सिद्ध विरक्त महामुनि योगी,
तेपि कामबस भए वियोगी। ...

(*रामचरितमानस*, बालकांड, दो० ८४, चौ० १-८)

सारे वायुमंडल में, जल-संस्था के तरंगिल अन्तराल में, तरु-वीरुध के रोएँ-रेशे में, धरती के कण-कण की धड़कन में और विरल आकाश की तरल उजास में रति-संकेत की ऐसी सुरसुराहट उठने लगती है कि प्रकृति की सारी ऊर्जा बूँद-बूँद छलकने के लिए आतुर है। फिर भी, शिव शान्त अविचल और समाधिस्थ बने बैठे हैं, जैसे कहीं कुछ भी नहीं है। कामदेव निराश हो जाते हैं और अन्ततः खीझ कर रसाल-वृक्ष की घनी डालियों की ओट से शिव पर पंचबाण का प्रहार करते हैं। काम का ऐसा उद्दण्ड प्रदर्शन, रति की इतनी निर्लज्ज मोहनशीलता और मैथुन के ऐसे नग्न विप्लव से शिव

की समाधि टूटती है। कामदेव के सबको मोहित कर लेने का दर्प जैसे ही अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है, शिव की तीसरी आँख खुल जाती है और आज्ञा-चक्र की आग में कामदेव की काया जलकर राख हो जाती है —

स्फुरन्नुदर्चि सहसा तृतीया-
दक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात।
तावत्सवहि नर्भवनेत्र जन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार।।

(*कुमारसंभव*, III, 71-72)

मन्मथ-दहन शिव तत्त्व की दार्शनिक समीक्षा का बड़ा मृदुल स्थल है। साधक-योगी तो स्वयं को 'अकंटक' मान लेते हैं, क्योंकि उनकी ध्यान प्रक्रिया में बार-बार रति का आकर्षण लेकर एक उर्वशी उपस्थित हो जाती है और उनकी आराधना अरूप से फिसलकर किसी मादक रूप पर ठहर जाती है। लेकिन, शेष शरीरधारी जो 'कामसुख' के शब्दातीत स्वाद से परिचित हैं, गहरे सोच में डूब जाते हैं कि अब उनकी लालसा का आनन्द-बिन्दु कहाँ है? पुनः रति की रुदन-याचना पर शिव कामदेव को जीवित तो कर देते हैं, लेकिन दैहिक नहीं अनंग रूप में। अर्थात्, रति के आवेश की धारा बदल जाती है। पहले काम सीधे जीव के अंगों को झंकृत करता था अब वह मानसिक स्फुरण बनकर उभरता है। कुल मिलाकर, प्राणियों में काम के संचरण का समीकरण बदल जाता है और भोग की परिभाषा प्रच्छन्न रूप से मन का विक्षेप बनकर ठहर जाती है। आपात दृष्टि से बात लगभग वैसी ही रहती है। सहवास के सुख का तिरोधान नहीं होता, केवल मन के नियमन का प्रतिबन्ध प्रभावी हो जाता है। दिन-दहाड़े सर्वत्र उद्धत-उच्छृंखल काम-लीला का अन्ध-उन्माद वस्तुतः सृजन का नहीं विध्वंस का लक्षण है। शिव इसी विध्वंस का विनाश करते हैं, स्वयं वैवाहिक मर्यादा को स्वीकृति देते हैं और मन के लिए एक नई संभावना का द्वार खोल देते हैं। अब यह मनुष्य का अपना निर्णय है कि वह मन से देह की ओर गिरता है या नित्य-मंगल समाधि की ओर उठता है। दोनों के परिणाम स्पष्ट हैं।

काम-लीला का मूल प्रश्न कुछ और गंभीर है। पहला तो यह कि सारी जीव-सत्ता नारी-पुरुष दो रूपों में विभक्त क्यों है? निश्चित रूप से प्रकृति उनके सहवास का संकेत देती है। और तब, उनके पारस्परिक संगम को 'मौलिक पाप' की संज्ञा क्यों दी जाती है? वस्तुतः, ऋषि-कल्पना में आनन्द समष्टि का अंतिम सत्य है और समाधि उसका अनाविल पर्याय है। सापेक्ष जगत् की सृष्टि इसी आनन्द से इसी आनन्द के लिए होती है। इसकी आन्तरिक अनुभूति के लिए जब एकत्व का तनाव टूटता है तब एक ध्रुवान्तर उत्पन्न होता है और द्विलिंगी सृष्टि होती है। दो विपरीत ध्रुवी ऊर्जाओं के संगमन की प्रवृत्ति स्वाभाविक और स्वतःप्रेरित होती है और इस प्रेरणा के मूल में बृहत्तर सुख की लालसा निवास करती है। लेकिन, जब रति-क्रिया पदार्थ-केन्द्रित या देह-प्रधान होती है तब चेतना का स्खलन होता है और मन आत्म-विस्मृति के दंश को ही आनन्द का विकल्प मान लेता है। ऐसी स्थिति में, मूर्च्छा प्रधान हो जाती है और जाग्रत् संबोध की संभावना गौण हो जाती है। इसी क्षणिक सुख की मूर्च्छा को 'ज्ञान-वृक्ष का भक्षण' कहा जाता है। कामदेव के दहन का सीधा संकेत है कि रति का आध्यात्मिक उद्देश्य वैश्विक लालसा की तृप्ति है जहाँ मन उत्तर चेतना के प्रान्त में प्रवेश करता है। अपनी शुद्ध चेतना का सहज बोध और उसकी क्षमता के प्रति चैतन्य भाव ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति का परिचायक है, लेकिन समागम के शिखर-बिन्दु पर आकस्मिक उन्माद की धुंध में आत्म-चेतना का विस्मरण मनुष्य को मात्र देहधारी की भूमिका में खींच लाता है जो पतन का लक्षण है। इसीलिए, संभोग 'मौलिक पाप' बनकर रह जाता है। जिस प्रक्रिया में परा-तत्त्व के ज्ञान की संभावना है उसका अज्ञान में बदल जाना और एक अतीन्द्रिय सुख से अछूता रह जाना पुण्य का नहीं प्रायश्चित का विषय हैं। वासना के वशीभूत होकर किसी अन्य की शरण में जाने और उससे जुड़कर सुख की अपेक्षा करने से आत्म-संभूति की पूँजी घट जाती है। यही कारण है कि शिव समाधि टूटने पर तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हैं और कामदेव के छद्म-आनन्द की योजना भस्मसात कर देते हैं।

काम देह-घर्षण का ताप नहीं है, मानसिक कंडूयन का संताप नहीं है और आत्मघाती प्रवृत्तियों का पान भी नहीं है। काम का एक उत्तर पक्ष भी है। काम वासना है तो चिद्विलास भी है, संत्रास है तो संतृप्ति भी है और स्खलन है तो ऊर्ध्वारोहण भी है। काम जितना प्राकृत है उतना ही परात्पर है। इसमें वीर्य-ऊर्जा का जितना सहज विसर्जन है उतना ही वज्र प्राण का परिमार्जन भी है और दैहिक संवेदना का जितना विह्वल आवेश है, शुद्ध चेतना का उतना ही प्रांजल उन्मेष भी है। काम कल्पना के सोनिल बिंबों जैसा विचित्र है, लेकिन किसी सिद्ध की कामना जैसा पवित्र भी है। इसीलिए, वैदिक ऋषियों ने इसे सृष्टि के आदि-स्फुरण की संज्ञा दी है। निरुक्ति के अनुसार काम आत्मा की गति है, सर्वस्व की संवेदना है, वैश्विक सलिल ही हिलोर है — 'कस्य अम: काम:'। वस्तुत:, काम सार्वत्रिक प्राण के अन्त:प्रवाह की दिशा है। यह गति पदार्थ की ओर हुई तो पतन होता है और परमात्मा की ओर हुई तो उत्कर्ष होता है। काम के उत्कर्ष की प्रक्रिया मानवी संरचना में आज्ञा-चक्र से आरंभ होती है जो नासिका और भौंहों के बीच अवस्थित है।

मनुष्य के पतन-उत्थान या विन्यास और विध्वंस की प्रक्रिया का नियमन आज्ञा-चक्र में होता है। इसीलिए, इसे इच्छा का नियंत्रण केन्द्र भी कहा जाता है। भौतिक तत्त्व की ओर उन्मुख होने वाली इच्छा चित्त में अग्नि उत्पन्न करती है और यदि उसका शिव-संकल्प द्वारा संशोधन नहीं किया गया तो अन्तत: वह विकराल ज्वाला का रूप ले लेती है। काम की अनियंत्रित श्रृंखला सृष्टि के विनाश का कारण बन जाती है। लेकिन, जीवन का साध्य सृजन और सृजन का लक्ष्य आनन्द है। काम निश्चित रूप से सृजन का साधन है। पर, वह सर्जना ही कैसी जो अबाध विक्षोभ की उथल-पुथल, दारुण हाहाकार और तज्जन्य दैन्य का पर्याय बनकर रह जाय? इसीलिए, शिव काम की अन्धाधुन्ध आपाधपी का विध्वंस करते हैं और उसे एक संतुलित अर्थवत्ता देकर प्राणि-मात्र को भौतिक संताप और मानसिक विक्षेप से ऊपर उठने का संकेत देते हैं। काम जब अपनी निम्न अवस्था (स्वाधिष्ठान) में ही सिमट कर रह जाय तो मनुष्य पशुता की परिधि में बँधा रह जाता है और जीवन आनन्द की उदात्त संभावना से वंचित रह जाता है। ऐसा काम

मुक्ति का नहीं दमन का द्योतक है। किसी व्यक्ति का अपने देवत्व की अनुभूति से अपरिचित रह जाना, बार-बार आनन्द की परिभाषा को विकृत करना और समाधि के साधन को दैहिक संभोग का माध्यम समझ लेना एक आध्यात्मिक अपराध है।

इच्छाएँ जहाँ अनन्त का संस्पर्श पाती हैं, कल्पना जहाँ अपने यथार्थ का प्रमाण बन जाती है और जहाँ मन के सारे संकल्प-विकल्प सात्त्विक आनन्द के साक्षी बन जाते हैं, वहाँ प्राणियों के संपूर्ण नाड़ी-तंत्र में मधुर चाँदनी की शीतलता भर जाती है। तब, भौतिक सत्ता में अग्नि का नहीं सोम-तत्त्व का संचार होता है। सन्तों और अनुभवी साधकों ने इसे 'आकाश से अमृत का झरना' कहा है। यही परम सत्ता का रस है, शिखर पुरुषार्थ की मर्यादा है, आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है, अगाध आनन्द की प्राप्ति है और आन्तरिक दिव्यता की वह अनुभूति है जिसके समक्ष विश्व का सारा वैभव नगण्य लगता है। यही मानसिक सन्दर्भ में तीसरी संभावना का साक्षात्कार है। तीसरी आँख का उन्मीलन केवल अग्नि-झंझा का प्रकोप नहीं, अमित शान्ति का प्रवर्तन भी है।

तृतीय नेत्र चेतना का तपोलोक है जहाँ सत्य की प्रतिष्ठा होती है, जहाँ व्योम के नित्य आभास में आत्मा का प्रतिबिंब खिलता है और 'स्व' के अन्तस्थ रूप का दृश्य उपस्थित होता है। इस चैतन्य केन्द्र के जागरण से शब्द में, स्वाद में, आदित्य में, शशांक में, प्रकृति के ललित विस्तार में, सत्त्व-रजस्-तमस् की लीलामयी रचनाओं में, काम-क्रोध की क्रीड़ा में और जागरण-स्वप्न-सुषुप्ति की संवेदनाओं में अपर तुरीय के अलक्ष्य आयाम के दर्शन होते हैं। यहाँ बैखरी की तुमुल शब्दावली व्यर्थ हो जाती है। इस आयाम में काल की छलना विलीन हो जाती है, सूक्ष्म संधारणाओं के सेतु बिखर जाते हैं, सब कुछ अनन्त में डूब जाता है और मात्र 'एकोव्यापी शिवोऽयं' का चिदाभास शेष रह जाता है। इसीलिए, 'ज्ञान-तंत्र' का निर्देश है —

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं, मनस्तत्र विलीयते,
ज्ञातव्यं तत्परं तूर्य यत्र कालो न विद्यते...।



अर्द्धनारीश्वर शिव : प्रतीक और पल्लवन

शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का दर्शन अद्वितीय है। वैश्विक सन्तुलन की इतनी स्वस्थ ललित अवधारणा, विराट सत्य का सामान्य यथार्थ के रूप में इतना अविकल अवतरण और उसका जीवन के दैनन्दिन आचरण में इतना सहज रूपान्तरण सामान्य मेधा की देन नहीं है। भारतीय ऋषियों ने बड़ी तपस्या से पराव्योम को निचोड़ कर शिव के रूप की रचना की है। एक ओर पुरुष का प्रारूप है, दूसरी ओर नारी की प्रतिष्ठा है। एक ओर प्राणों की पुरुष ऊष्मा है, दूसरी ओर कोमल स्वरों का शीतल उछ्वास है। एक ओर पौरुष का प्रमत्त औदार्य है, दूसरी ओर समग्र स्त्रीत्व का सर्वभुक् आमंत्रण है। एक ओर ज्योति-वपुष की जीवन्त उठान है, दूसरी ओर अन्ध-योनि का अशेष गह्वर है। शिव की एक आँख में अनंग की मृदुल भंगिमा है और दूसरी में आत्यन्तिक तृप्ति का भाव है। उनके आधे-अंग में मादक विसर्जन का संवेग है और आधे में आनन्द के संपूर्ण अवशोषण का आश्वासन है। उनके विग्रह में एक ओर पशुपति का पावन विश्वास है और दूसरी ओर पार्वती की पवित्र श्रद्धा है। अद्वैत में द्वैत की ऐसी छटा का दर्शन केवल देवभूमि के भाग्य की बात है।

शिव के सारे विपरीत द्वैत में कहीं विपर्यय का भाव नहीं है, कहीं व्यतिक्रम का भ्रम नहीं है और किसी अटपट घटना का कोई घटक नहीं है। द्वैत में अद्वैत सिद्धि का इतना असाधारण संयोग देखना दुर्लभ है। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना को प्रतीक के रूप में अंकित करना और उसे लोक-जीवन की उपासना का ध्येय बना देना पुरातन ऋषियों की ऋतंभरा चेतना का अपूर्व अवदान है। वरना, इतनी विपरीत-ध्रुवी संधारणाओं का समन्वय और इतनी अनगढ़ आकृतियों में सुगठित सौन्दर्य की उद्भावना आसान बात नहीं है। अपने पूर्वज ऋषियों के पुण्य से जिस रूप की कल्पना कठिन है उसका दर्शन सरल हो जाता है। ऐसी क्रान्तदर्शी प्रज्ञा जिसे छू देती है, उसमें

चमत्कार भर जाता है, जिसे देख लेती है वही दर्शनीय हो जाता है और जो कुछ कह देती है वही छन्द हो जाता है। वस्तुतः, शिव ऐसे देवता हैं जिन्हें वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए, उनके वर्णन में भाव का परिचय बाद में आता है, अभाव का प्रत्यय पहले आ जाता है, जैसे — अकल, अनीह अकाम अभोगी। योग-सिद्ध स्वरूप की यही विशेषता है।

शिव-दर्शन के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि जो घटना मानस की पृष्ठभूमि में घटित होती है, वही प्राणों के पटल पर उभरती है और फिर देह के धरातल पर प्रस्फुटित होती है। चेतना के निरभ्र आकाश में एकवर्णी ज्योति की कोई लहर उठती है जो सुपर्ण लय से हृदय पर अपने लालित्य का हस्ताक्षर छोड़ जाती है और इसी मूल-संज्ञा की सिहरन मन के नीहारलोक में इन्द्रधनुषी छवियाँ बिखेर कर पुनः दूसरी लहर की भूमिका में शेष हो जाती है। वेदों में उत्तर मनीषा का कुछ ऐसा ही संकेत है जिसे लौकिक शब्दावली की श्रृंखला में बाँधना दुःसाध्य है। तर्क की भाषा को चुनौती देने वाली ऋचाओं के संबन्ध में कुछ कहते समय अक्सर अभिव्यक्ति का संकट खड़ा हो जाता है। लेकिन, वैदिक ऋषि इसे कितने उदात्त स्वर में विभोर होकर कहता है —

समूद्रादूमिर्मधुमां उदारद् उपांशुना सममृत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुहां यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभि॥

(*ऋग्*, 4, 58, 1)

"शान्त समुद्र से मदिर लहरें उठ रही हैं। घृत-प्रकाश में गूढ़ तमस् घुलता जा रहा है। देवताओं की जीभ पर अमृत का स्वाद ठहर गया है और विराट सृष्टि में समत्व का बोध उभर रहा है।" सम्पूर्ण विश्व में इसी समत्व का बोध अर्द्धनारीश्वर का रहस्य है।

सारा ब्रह्मांड विभक्ति का वैभव है, शक्ति का सन्ताप है, क्वांटम कणों का प्रकीर्णन है। सबके भीतर एक विभाजन की रेखा है और इस रेखा के आर-पार परस्पर-विरोधी सत्ता की खींच-तान लगी है। लेकिन, जहाँ विरोध है, वहीं सान्निध्य है, जहाँ भिन्नता है वहीं संगम की संभावना है, जहाँ

वैपरीत्य है, वहीं एकत्व की कामना भी है और जहाँ वितृष्णा है, वहीं आकर्षण भी है। यह कोई हाल की घटना नहीं है, कोटि-कल्पान्तर की कथा है। सीता और राम की जोड़ी बनती है, दोनों वन-वन भटकते हैं, लेकिन कभी पूरी तरह जुड़ नहीं पाते। राधा-कृष्ण की रास-लीला चलती है, चोरी-छिपे कुंज-निकुंज में राग-रमण होता है, लेकिन सर्वांग एकत्व का शाश्वत समीकरण नहीं बन पाता। परन्तु, शिव-पार्वती के परिणय की आख्या बड़ी न्यारी है। वे ऐसे अविच्छिन्न आलिंगन में बँधते हैं कि निर्वात पात्र के अर्द्धवृत्त की तरह सट जाते हैं। फिर, सृष्टि की सारी शक्ति जोर लगा कर 'हैऽऽसा' करती रह जाय तब भी वे जैसे-के-तैसे सटे रहते हैं। वैसे, पुराणों में प्रत्येक देवता के अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना है, लेकिन स्त्री-पुमान् के सन्नद्ध स्वरूप की वैदिक अवधारणा केवल शिव में ही मानी गई है। शेष देवताओं में इसे लगभग विस्मृत कर दिया गया है। संक्षेप में, दो परस्पर-पूरक तत्त्वों की अन्योन्य-भिन्नता के सनातन एकान्त को अर्द्धनारीश्वर की संज्ञा दी जाती है।

वेदों की संधारणायें बड़ी दुग्ध-प्रवण हैं। वैदिक दर्शन इतना दुधारू है कि उसके एक-एक शब्द-रूप से मधु-विद्युत् का रस टपकता है। वृक्ष, पर्वत, समुद्र, चन्द्र, सूर्य और आकाश धीरे-धीरे सभी ब्रह्म के पर्याय हो जाते हैं। समुद्र को सोम भी कहा जाता है। एक समुद्र ऊपर आकाश में हिलोर लेता है, उसे ऊर्ध्व-समुद्र कहा जाता है। दूसरा उत्तरार्द्ध सत्ता का सागर है जो नीचे बहता है। इसे अध:समुद्र माना गया है। एक सिन्धु काल का है, एक सागर समया का भी है। अर्थात्, ब्रह्म के विपरीतधर्मी विभाजन की योजना आकाश और काल पर भी लागू होती है। *बृहदारण्यक* का कथन है — "तस्मादयम् आकाश: स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त।" कहने का तात्पर्य कि सारा आकाश स्त्री-भाव से भरपूर है ओर उसी से पुरुष का जन्म होता है। पंचपर्वा विद्या के अनुसार मनुष्य का शरीर केवल अर्द्धपर्व है जिसकी पूर्णता स्त्री या सोम से ही संभव है। यही स्त्री-पुरुष का संयोग अर्द्धनारीश्वर है। इसीलिए, कन्या के विवाह-मंडप में पुरुष का स्वागत करते समय कहा जाता है — अथ वरं

वृणीते। कन्या सोम है और वर सूर्य का नाम है। अर्थात्, नारी-पुरुष का वैवाहिक संबन्ध वस्तुतः अग्नि और सोम के संयोग का उत्सव है जिससे सृष्टि की संभावना साकार होती है। ब्राह्म दृष्टि से विवाह अर्द्धनारीश्वर की एकरूपता का प्रतीक है।

भारतीय मनीषा की एक कोमल संधारणा है। देव-युग की पूर्ववेला से पहले न आकाश था, न पवन था, न अनल था, न सलिल था, न सूर्य था, न पृथ्वी थी, न चाँद था, न तारे थे और न तरुवर थे, न पंछी थे। दूर-दूर अंबर की अदृश्य सीमा तक कहीं कुछ भी नहीं था। जो भी था बस कैवल्य चेतना का अनन्त विस्तार था। इसे ऋषियों ने अनिर्वचनीय ब्रह्म की व्याप्ति कहा है। ब्रह्म के इसी निर्विकल्प भाव में अनादि पुरुष की पूर्ण सत्ता निहित थी। आनन्द भी एकान्त और एकरस हो तो कुछ विचित्र-सा, बड़ा उदास लगता है। श्रुतियाँ कहती हैं कि उस पुरुष का मन अकेले रम नहीं रहा था। उसके अन्तर में अपने से भिन्न किसी अन्यतर द्वितीय की कामना उठी और उसने लीला की लालसा से अपनी सत्ता को दो हिस्सों में विभक्त कर लिया। तब उसने सृष्टि आरंभ की और स्वयं अपनी रचना में विलीन हो गया — तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

वस्तुतः, सारी सृष्टि ब्रह्म-सत्ता के ध्रुवीकरण का परिणाम है। अपने को बाँटने की उत्कंठा और फिर उसे बटोरने की लालसा इन्हीं दो बिन्दुओं के बीच विश्व-प्रपंच की सारी दोलन-क्रिया चलती है। स्वयं से भिन्न किसी और में अपनी छाया के व्यामोह से ऐसी सिहरन उठती है कि एक से अनेक होने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। फिर तो, अक्षरों से प्रतीक फूटने लगते हैं, शब्दों से भाव टपकने लगते हैं और ध्वनियों से आकाश की नीलिमा छलकने लगती है। जब पुरुष के मन में पहली बार नारी का सौन्दर्य उतरता है तब सन्ध्या और भोर का अर्थ भूल जाता है, काल की सीमाएँ सिमट जाती हैं और केवल किसी मादक छवि के नित्य आश्लेष का स्वप्निल आभास शेष रह जाता है। तब, सत्य से सपनों के गुलाबी बिंब उभरने लगते हैं। इसी प्रांजल दर्शन में अनुराग का रंग भरने के लिए शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना की गई।

ब्रह्म के विभाजन की शक्ति को 'भग' कहा जाता है। *ऋग्वेद* में भग को ईश्वर की कोटि में माना गया है और इसे 'विभक्ता देवता' की उपाधि दी गई है — 'भगो विभक्ता'। ब्रह्म की भवगत्ता के संबन्ध में उक्ति है — ''विभिर्द्वाचरत एक या सह प्रवासेव वसत:''। अर्थात्, दो भागों में विभक्त होकर भी जो एकत्व की गरिमा लिए चलता हो और साथ रहकर भी प्रवासी जैसा प्रतीत होता हो वही ब्रह्म पद का अधिकारी होता है। ब्रह्म अपना विभाजन स्वयं आत्म-रमण के लिए करता है। सृष्टि के पूर्व वह कभी एक दीर्घ उछ्वास भरता है। यह उछ्वास बृहत्तर जीवन की कामना से उठता है — आह, मैं कितना निरीह, नि:संग और अकेला हूँ, दूर-दूर तक केवल मैं और आगे पीछे कितना अनन्य एकान्त, कितनी बंजर उदासी और कितनी निष्करुण नीरवता, निर्वात् शून्य का अन्तहीन गर्त्त, शान्त तिमिर का अछोर फैलाव और ऊपर से किसी काल्पनिक अपर की अनाम पीड़ा अद्वैत का अभिशाप भी कितना असह्य होता है? कोई दूसरा नहीं है जो हृदय की पीड़ा पर अपनी कोमल हथेली का स्पर्श दे सके। इसी मार्मिक दैन्य से आहत ब्रह्म स्वयं अपना विभाजन करता है। मानसी सृष्टि की कामना प्राणों की परिमा में प्रवेश करती है। समष्टि के विरल आकाश में एक कोमल करुण सिहरन उठती है। सृष्टि के स्वधा-तत्त्व में छान्दस भाव का अंकुरण होता है और प्राण विभक्त हो जाते हैं। एक उदान प्राण है जो ऊपर उठता है और एक अपान है जो नीचे की ओर गिरता है। लेकिन, समान प्राणों के बिन्दु पर दोनों सन्तुलित हो जाते हैं। अर्द्धनारीश्वर की संधारणा में इसी मध्यप्राण की प्रतिष्ठा प्रकट होती है।

अर्द्धनारीश्वर की कल्पना में सृष्टि की मूल प्रक्रिया का उद्घाटन होता है, प्राण-बिन्दु की पीठिका का निर्धारण होता है और यही धारणा जीवन के विकास की व्याख्या करती है। इसी प्रक्रिया का एक विलोम प्रकरण नृसिंह अवतार में उपस्थित होता है। नृसिंह की प्रतीक-योजना में मृत्यु, विध्वंस और विनाश की घटनाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। हिरण्यकश्यप को वरदान मिलता है कि उसे न मनुष्य मार सकता है, न देवता, न पशु। वह न घर में मर सकता है न बाहर, न पृथ्वी पर न आकाश में और न दिन में न रात में।

लेकिन, जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्य होनी है। फिर वह कैसे मरे? सन्ध्या काल में, चौखट पर अपनी जाँघ पर नृसिंह उसका वक्ष विदीर्ण कर देते हैं। वस्तुत:, विश्व की सारी घटनायें वहाँ घटती हैं जहाँ यहाँ-वहाँ का भेद नहीं है, जहाँ न अब है न तब है, न इधर है न उधर है ओर न दिवस है न तमस् है। ऐसे ही नेति-नेति के बिन्दु पर सृष्टि घटित होती है और ऐसे ही विचित्र क्षण में सत्ता तिरोहित भी होती है। प्रकारान्तर से, नृसिंह अवतार को भी अर्द्धनारीश्वर की संकल्पना का ही एक रूप माना जाता है। लेकिन, यह व्याख्या कुछ नीरस लगती है जब कि शिव-पार्वती के युगनद्ध विग्रह की भावना सरस, सुकोमल और बड़ी प्राणमयी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने शंकर के अकास-पताली विग्रह-विधान पर एक पावन उत्कंठा का प्रश्नचिन्ह लगाया है — "अरध अंग अंगना नाम जोगीसु जोगपति। विषम असन दिगवसन नाम विस्वेसु बिस्वगति।" शिव को विश्वेश कहा जाता है। वे विश्वनाथ हैं, जगत्रियन्ता हैं, लेकिन उनकी हालत ऐसी है कि उन्हें खाने को कुछ नहीं मिलता और भाँग-धतूरा खाकर गुजर करने की नौबत लगी रहती है। पहनावे के नाम पर वे आकाश ओढ़े रहते हैं। कहने का तात्पर्य कि वे नितान्त नंगेपन के प्रतिरूप हैं और इस नग्नरूप में उनके आधे अंग में पार्वती का शाश्वत सघन आश्लेष है। नित्य सुरति का इतना स्निग्ध-मुग्ध आलिंगन और नारी-पुरुष की ऐसी अविच्छिन्न अन्तर्बद्धता सचमुच आश्चर्य की बात है। गोस्वामीजी चकित हैं कि ऐसे नित्य रतिबन्ध में आबद्ध दिगंबर शिव को सिद्ध लोग परमयोगी की उपाधि से अलंकृत क्यों करते हैं? सतही दृष्टि से देखने वाले कुछ लोग तो उन्हें हिप्पियों का साक्षात् देवता भी मान बैठते हैं। लेकिन, रहस्य बड़ा गहरा है।

वस्तुत:, दो नितान्त विपरीत स्थितियों में सन्तुलन की मर्यादा का निर्वाह कोई मामूली साधना नहीं है। उस पर भी, ध्यान देने की बात है कि गोसाईंजी ने शिव को योगेश, नहीं योगीश कहा है। वे केवल योग के अधिष्ठाता नहीं, योगियों के अधिपति हैं, मात्र शंभु नहीं, स्वयं-भू हैं और वे महज व्योमेश नहीं व्योमकेश हैं, क्योंकि शिव के लिए आकाश की व्याप्ति पर्याप्त नहीं है, पराकाश की अतिव्याप्ति अभीष्ट है। शंकर के लिए आकाश की इयत्ता तो

मामूली केश जैसी है। श्रुतियाँ साक्ष्य देती हैं कि ब्रह्म की इच्छा ही स्त्री के रूप में प्रकट होती है। यही ब्रह्म की माया-शक्ति है। सृष्टि का संचालन इसी शक्ति द्वारा होता है। इसके वश में होना प्रत्येक प्राणी की विवशता है, लेकिन इसे वशीभूत कर लेना महती सिद्धि है। शिव इस शक्ति को निरन्तर बाँधे रहते हैं। शिव से इच्छा का इकार हट जाय तो शिव और शव में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यही शक्ति उन्हें योगीश बनाती हैं। शिव के साथ पार्वती का नित्य योग न हो तो वे जड़ पर्वत से भिन्न नहीं प्रतीत होते। अतः, शिव के योगीश होने का अर्थ ही है उनका अर्द्धनारीश्वर होना। अर्द्धनारीश्वर होना सबीज समाधि का लक्षण है।

शिव की एक बड़ी सारगर्भित संज्ञा रुद्र है। रुद्र अग्नि का द्योतक है जिसकी उत्पत्ति दो अरणियों के पारस्परिक घर्षण से होती है। इसे परिजातवेदा अग्नि कहा जाता है जिससे बाद में जातवेदा या अतिथि अग्नि उत्पन्न होती है। वैदिक संधारणा है कि जहाँ रौद्र है वहीं रुदन भी है, जहाँ अग्नि का प्रश्न है वहाँ पानी की संभावना भी है और जहाँ विकट पौरुष की दीप्ति है, वहाँ सौम्य नारीत्व का शीतल विस्तार भी है। शिव के स्वरूप में समन्वय की साधना का सिद्धान्त आकार ग्रहण करता है। *शतपथ ब्राह्मण* ने इस सवाल को बड़े नाजुक ढंग से उठाया है — ''प्रथमां समिद्धो या धूप्यत, तर्हि भवति रुद्धः, अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः। अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति उच्चैः धूमैः परमया जूत्वा वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः। अथ यत्रै तत्प्रतितराम इव तिरश्चीवार्चिः स शाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः।'' यह अग्नि के क्रमिक विकास की कथा है। जब वेदिका में समिधा की अरणियाँ जलती हैं तब पहले उनका जलीय अंश बाहर आता है। यह आग के भीतर छिपे वरुण का प्रकट होना है। अग्नि थोड़ी और तेज होती है तब धुआँ उठता है और दूर आकाश में फैल जाता है। फिर, श्यामल संघनित बादल बनते हैं। जलावर्त्त मेघों के बीच बिजली चमकती है जिसमें इन्द्र की शक्ति निहित रहती है। ऋषियों ने विद्युत् को पानी का प्रकाश कहा है — ''विद्युत् वा अपां ज्योतिः''। मेघों के बीच बिजली चमकने से पानी बरसता है, पृथ्वी पर वनस्पतियों के पीत-हरित अंकुर फूटते हैं और सृष्टि में सोम

तत्त्व का मंगल विस्तार होता है। रुद्र, वरुण, इन्द्र और सोम के एक-दूसरे में रूपान्तरण की यही प्रक्रिया विभिन्न रूपों में ढलती रहती है और सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

वैदिक दृष्टि से आग जब आग में जलती है तब वह पानी बन जाती है। साधारण धरातल से यह एक विचित्र घटना लगती है। वैसे, यह संधारणा थोड़ी जटिल जरूर है, लेकिन वैज्ञानिक है। वरुण को आदित्य का प्रतिरूप माना गया है और व्यापक अर्थों में वह समुद्र, जल और तमस् का अधिपति भी है। अग्नि के आग में तपने की प्रक्रिया का एक उदाहरण स्वयं सूर्य है। सूरज का अन्त:प्रदेश काला है और यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सूर्य की लपटों में जल की भी पर्याप्त मात्रा वर्तमान है। कहाँ 6000 डिग्री तापमान पर प्रदीप्त आदित्य की उज्जवलता और कहाँ उसके केन्द्र प्रान्त पर सूचीभेद्य कालिमा? कुछ अटपट जरूर लगता है, लेकिन विरोधाभास कहाँ नहीं है? सारी प्रकृति ऐसे ही विरोधाभासों से भरपूर है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनके समन्वय का है। जब कभी समानधर्मी सत्तायें आपस में मिलती हैं तब वे एक-दूसरे का मान बढ़ा भी सकती हैं और अगर कलाएँ भिन्न हुई तो वे एक-दूसरे के प्रभाव को पूरी तरह नष्ट करके एक विपरीत अवस्था उत्पन्न कर सकती हैं। प्रकाश के व्यतिकरण के सिद्धान्त में ऐसा ही होता है जब प्रकाश प्रकाश से जुड़कर अन्धकार में बदल जाता है। अत:, आग की आग में आहुति से पानी बन जाने की बात और उसके तमस् या वरुण तत्त्व में रूपान्तरण की संभावना विशेष आश्चर्यजनक नहीं है। वैसे, सूक्ष्म कणों की अंतकर्था को स्थूल शब्दावली में व्यक्त करना कठिन अवश्य होता है। यह काफी कुछ उसी तरह की उलझन है जैसी क्वांटम घटनाओं को चिरसम्मत भौतिकी की भाषा में अभिव्यक्त करते समय उत्पन्न होती है।

अर्द्धनारीश्वर की परिकल्पना विराट विश्व-यज्ञ को रूपांकित करती है। यह यज्ञ समिधा की युगल अरणियों से उत्पन्न अग्नि द्वारा आरंभ होता है। समिधा की वेदिका को स्त्री या योषा कहा जाता है। जिन दो अरणियों के पारस्परिक घर्षण से आग पैदा होती है उनमें से ऊपर की अरणि को पुरुष और अधोवर्ती अरणि को स्त्री माना जाता है। एक अरणि रुद्र है और दूसरी

उसकी पत्नी रोदसी है — रुद्रस्य पत्नी रोदसी। यह एक ही तत्त्व के दो रूपों में विभाजन का क्रम है। सृष्टि-रचना में रुद्र का रोदसी में रूपान्तरण हो जाता है। भौतिक शब्दों में यह अग्नि का जल में रूपान्तरण है और जब तक आग पानी नहीं बन जाती तब तक जीवन का कही कोई अंकुर नहीं फूट सकता। यही क्रम जीव-जगत् की सारी प्रवृत्तियों में परिलक्षित होता है। क्रोध का पर्यवसान करुणा में होता है, द्वेष का उद्दीपन दैन्य में विसर्जित होता है, घृणा की परिणति प्रेम में होती है और घनीभूत अनुराग सहज विराग में रूपान्तरित हो जाता है। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ विपरीत-ध्रुवी होती हैं, पदार्थ की प्रकृति में द्वैत समाहित रहता है और प्राणों के स्वरों में आरोह-अवरोह का वितान होता है। सृष्टि में जहाँ कहीं निरपेक्ष एकत्व का आन्तरिक विभाजन है और एकबीजत्व की द्विदल सर्जना होती है वहाँ शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की व्यंजना साकार होती है। सृष्टि में जहाँ एक कण धनात्मक है, वहीं दूसरा ऋणात्मक है। चुंबक के ध्रुव एक-दूसरे के विपरीत होते हैं और बड़े प्रेम से सटते हैं। विद्युत्-कणों के आवेश परस्पर विरोधी होते हैं और इतने तीव्र आकर्षण से एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं कि चिनगारी फूट पड़ती है। यही नहीं, वैज्ञानिक कहते हैं कि सारे ब्रह्मांड का दर्पण-बिंब एक ऐंटिब्रह्मांड भी है। विश्व की सारी विपरीत सत्ताओं की प्रच्छन्न पुरातन प्रीति की संज्ञा अर्द्धनारीश्वर है।

अर्द्धनारीश्वर की संकल्पना प्राणिक धरातल पर भी खरी उतरती हैं। वेदों में मरुतों को रुद्र का पुत्र कहा गया है — "रुद्रस्य सूनवः सुदंससः"। मरुतों को वात, वायु और प्राणवायु आदि अनेक नाम दिए गए हैं। इनका स्वरूप 'विद्युन्मय' होता है 'विद्युन्मद्भिर्मरुतः।' स्पष्ट है कि प्राणों को आर्द्र विद्युत् के आवेश से संपन्न माना गया है। मरुतों की सत्ता स्वतंत्र होती है, उनका अपना पशु होता है, उनकी गति का अपना विधान होता है और उनके अपने पृथक् प्राण-पर्व होते हैं। प्राणमय मरुत् अखिल ब्रह्मांड की जीवात्मा है और जीवात्मा ब्रह्मांड की योनि है जिससे निरन्तर एक ध्वनि निकलती है। इस ध्वनि या घोष को ही रुद्र कहा जाता है। इसीलिए जीवात्मा और रुद्र को पर्यायवाची शब्दों की श्रेणी में रखा जाता है। ब्रह्म और जीवात्मा का नारी-

पुरुष या पति-पत्नी के रूप में जिस बिन्दु पर समागम होता है उसे शिव-तत्त्व का अधिष्ठान माना जाता है। शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की इस प्रतीकात्मक योजना का एक विराट फलक है। इस संधारणा के निगमन की विधाएँ सारी सृष्टि के अणु-परमाणु और समष्टि के सारे युगल सम्बन्धों में व्याप्त हैं।

मैथुनी सृष्टि के सन्दर्भ में अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा का सर्वाधिक प्रखर उदाहरण अहिवाद या सर्पवाद के रूप में उभरता है। केंचुआ सर्पवाद की साकार अभिव्यक्ति है। केंचुए के शरीर में दो योनियाँ होती हैं। इसके सिरे पर पुरुष और दूसरे छोर पर स्त्री के जननांग पाए जाते हैं। कुंडलित होकर वह स्वयं अपना भोग करता है। लाक्षणिक अर्थों में विश्व की सारी लिंगात्मक सत्ता स्वयंभोगी होती है। गति, संवेग या संसर्पण के कारण ब्रह्मांड को भी सर्प या अहि कहा जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर अहिवाद की भी दो धारायें हो जाती हैं जिनमें एक का संबन्ध प्राण से और दूसरी का पदार्थ से होता है। पहली को शैव और दूसरी को वैष्णव विचारधारा की संज्ञा दी जाती है। शिव का अहिवाद जीवात्मा से संबन्ध रखता है और विष्णु का अहिवाद भौतिक देह तक सीमित रहता है। यही कारण है कि सर्प शिव के गले का हार है और विष्णु का शेषनाग उनकी शय्या या आधार है। एक में विशुद्धि चक्र के शुभ्र प्राण की महत्ता है और दूसरे में मूलाधार की प्रतिष्ठा है। यह एक वैदिक संधारणा है जिसके अनुसार विष्णु भौतिक ऐश्वर्य के देवता हैं और शिव समाधि-चेतना के प्रतीक हैं।

अर्द्धनारीश्वर दो परस्पर विरोधी सत्ताओं का रसहीन रूपक नहीं है, बल्कि उनके अन्योन्य साहचर्य की सरस पूरकता की प्राण-व्यंजना है। यह विपरीत तत्त्वों के अन्तर्द्वन्द्व का कोरा समन्वय नहीं है, बल्कि ब्रह्म की एकान्त सत्ता का साक्षात् प्रतिरूप है और यह विपरीतधर्मी आकृतियों का मात्र समवाय नहीं, बल्कि प्रकृति की संपूर्ण ऊर्जा का पर्याय है। यह केवल पदार्थ की परिधि पर ठहरा प्रश्न नहीं है, प्राणों के गर्भ से उभरने वाला उत्तर है। अर्द्धनारीश्वर दो आमने-सामने जुड़े-जकड़े दर्पण का अटूट संयोग है जिसमें सारी सृष्टि की असंख्य छवियों के प्रतिबिंब बिखरते चले जाते हैं

जिनसे उपजत 'अनत अनत छवि लहई' का भाव उठता रहता है। वैसे, पदार्थ-जगत् की घटनाएँ भी कुछ कम संकेत नहीं देती हैं। ठोस पदार्थ के स्थैर्य में, तरल तत्त्वों की गति में, विरल कणों के आवेश और घूर्णन में यानी कर्म और क्रिया की समस्त विधाओं में अर्द्धनारीश्वर के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। कुछ चीज़ें चलती है और इतनी तेजी से चलती हैं कि ठहरी प्रतीत होती हैं। कुछ ऐसी भी चीज़ें हैं जो नितान्त अपने में ठहरी रहने पर भी गतिशील जान पड़ती हैं। सापेक्ष जगत् में ऐसी प्रतीति स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें कहीं कुछ ठहरा नहीं है, लेकिन कहीं कुछ ऐसा भी नहीं है जिसमें एक अलौकिक निरपेक्षता का भाव न भरा हो। कोई गति आगे की ओर होती है तो कोई पीछे की ओर। कुछ गतियाँ वामावर्त्त होती हैं जो निरन्तर अपनी बायीं दिशा में चक्कर काटती हैं और कुछ इसके विपरीत दक्षिणावर्त्त होती हैं। मूलकणों की परिभाषा में इस तरह की गतियों का विशेष महत्त्व होता है जिसे 'चक्रण' कहा जाता है। अर्द्धनारीश्वर की संकल्पना और शिव-पार्वती के युगल रूप में उसके चित्रण का भाव भक्ति के तल पर ही नहीं पदार्थ के धरातल पर भी प्रकट होता है।

भौतिकी के नोबेल पुरस्कार विजेता पॉल डिराक के एक प्रश्रुत सिद्धान्त में भी यही भाव झलकता है। कणीय जगत् की पृष्ठभूमि में ऋणात्मक ऊर्जा की एक अव्यक्त अनन्त सत्ता है जिसे डिराक-सिन्धु की संज्ञा दी जाती है। सन् 1945 में डिराक ने इलेक्ट्रान की क्वांटम यांत्रिकीय समीक्षा की जिससे यह स्पष्ट हो गया कि उसका एक दर्पण-बिंब भी होता है जिसे पॉजिट्रान कहा जाता है। फिर तो कणों और ऐंटिकणों की एक श्रृंखला-सी बन गई जो ऐंटिद्रव्य और ऐंटिब्रह्मांड की सम्भावना तक बढ़ चली। कणों के संबन्ध तक तो कोई खास उलझन नहीं उठी, लेकिन डिराक की मान्यता के अनुसार विशुद्ध ऊर्जा भी धनात्मक और ऋणात्मक दो रूपों में विभक्त होती है। उससे पहले आम तौर पर ऊर्जा को केवल धनात्मक ही माना जाता था और किसी ने कभी सोचा ही नहीं था कि ऊर्जा भी ऋणात्मक हो सकती है। यही नहीं, डिराक की मान्यता है कि ऋणात्मक ऊर्जा के सारे स्तर भरे होते हैं जबकि धनात्मक ऊर्जा की ढेर सारी उच्चतर अवस्थायें खाली पड़ी रहती

हैं। वैदिक ऋषियों ने संभवत: इसीलिए मातृ-संस्था की महत्ता पर विशेष बल दिया था और आकाश के स्त्री-भाव से भरे होने की बात (अयं आकाशः स्त्रिया पूर्यत) कही थी। वैसे, योनि और लिंग की अवधारणा भी कम वैज्ञानिक नहीं है। प्रश्न केवल उसे उच्चतर संस्कार की शब्दावली में ग्रहण करने का है। अध्यात्म चिन्तन के लिए भी वैज्ञानिक विचारणा की तरह वैयक्तिक वासनाओं का निरसन अनिवार्य है। अर्द्धनारीश्वर की रूपवेष्टी संधारणा समष्टि की सारी विधाओं में समान रूप से व्यक्त होती है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक जुंग की मान्यता है कि प्रत्येक पुरुष के भीतर एक नारी (*आनिमा*) निवास करती है। जहाँ कहीं किसी पुरुष को अपने अन्तर की नारी की प्रतिच्छवि दिखाई देती है वहीं उसके प्राण पुलकित हो उठते हैं और प्रेम अंकुरित हो जाता है। दूसरी ओर, हर औरत के मन में कोई पुरुष (*आनिमुस*) छिपा रहता है और जब उसके हृदय का प्रियतम जहाँ कहीं लता-कुंज की ओट से अचानक प्रकट होता है वहीं किसी पुरातन छोह की मूर्च्छना उठती है। जुंग से कई शताब्दी पूर्व भारतीय तंत्रशास्त्र ने इस रहस्य को खोज लिया था। तंत्र में आत्म-रति के आत्यन्तिक सुख की बड़ी मनोरम व्याख्या की गई है। अपने भीतर के नारी-पुरुष की पहचान मूलाधार से आरंभ होती है। जैसे-जैसे प्राणिक ऊर्जा नाभि-प्रान्त के मणिपुर से ऊपर उठती है उनकी दूरी घटती जाती है, धीरे-धीरे वे एक-दूसरे में समाहित होने लगते हैं और सहस्रार की सीमा में प्राणों के प्रवेश करते ही दोनों एक विपुल तद्भाव के प्रतीक बन जाते हैं। युगल प्राण की यही एकलयता अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा का मूल स्वर है।

प्रत्येक प्राणी की बायीं नासिका से चलने वाली सांस नारी-स्वर है, जिसे इड़ा या चन्द्र स्वर की संज्ञा दी जाती है। उसकी दाहिनी सांस को सूर्य-स्वर या पुरुष-स्वर कहा जाता है जिसे योग-विज्ञान की शब्दावली में पिंगला भी कहते है। जब इन दोनों स्वरों की तरंग-आवृत्ति समान होती है तब उनकी समरस अवस्था को सुषुम्ना नाड़ी का जागरण माना जाता है। इसी नाड़ी से कुंडलिनी की ऊर्जा कटि-प्रदेश के मेरु-पर्व से उठकर मस्तिष्क के कौंच द्वार को पार करती हुई सहस्रार के सुमेरु पर पहुँचती हैं जिसे

कैलास के रूप में अंकित किया जाता है। कैलास केलि-समूह (केलीनां समूह:) का परिचायक है। इसी पर्वत पर शिव-पार्वती का समागम होता है। यह अनिर्वचनीय आनन्द के उन्मद विप्लव का क्षण होता है जब शिव पार्वती के सौंदर्य का इतना मज्जापूर्ण रसपान करते हैं कि समाधि में चले जाते हैं और तब पिनाकधारी के प्रत्येक पोर में उमा की मधुर उमंग भर जाती है। शंकर और पार्वती के एकैक भाव की आनन्दमयी ऊर्जा अर्द्ध-नारीश्वर का सांकेतिक अर्थ व्यक्त करती है।

नारी के हृदय के पुरुष और पुरुष के मन की नारी के बीच सहज आकर्षण सृष्टि की आदिम कथा का मूल रहस्य है। अंतहीन प्रकृति में जितने जीव हैं उन सबकी आधी देह तरल, विरल और कोमल है तथा आधा शरीर कर्कश, कठिन और कठोर है। संपूर्ण विश्व-रचना के आधे स्वर में सूर्य का ताप है और आधी साँस में चाँदनी की शीतलता है। दाहिनी ओर रुद्र का विकट आवेग है और बायीं ओर पार्वती का सौम्य आमंत्रण है। एक ओर आकंठ प्यास का प्रश्न है, दूसरी ओर अगाध तृप्ति का उत्तर है। मन की अथाह तलहटी तक प्रकृति और पुरुष के सनातन संयोग की सिहरन व्याप्त है। प्राणों से लेकर परमाणु तक सभी अपने दर्पण-बिंब की प्रतीक्षा में पागल हैं। रात दिन के पीछे दौड़ रही है, धूप छाँव के लिए भटक रही है, कण अपने ऐंटिकण के लिए विक्षिप्त है और पौरुष नारीत्व के लिए विकल है। अद्भुत विडंबना यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का मन दो परस्पर-विरोधी वृत्तियों में विभक्त हैं, लेकिन एक अटल सत्य यह भी है कि जो कुछ हम बाहर खोज रहे हैं वह अपने ही अंतर की पुकार है और उसका उत्तर भी अपने ही भीतर है। भोले शिव जैसे निष्छल, निष्पाप देवता ऐसे द्वैत के प्रश्न को ही निरस्त कर देते हैं। वे नस-नस में बसी पार्वती की स्वकीया अर्द्धांगिनी बना लेते हैं। उनके अंग-अंग के आधे भाग में दक्ष-तनया का अक्षुण्ण आवास है। इसीलिए, उन्हें अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है।

अर्द्धनारीश्वर की संकल्पना में केवल समास का सन्तोष नहीं है, बल्कि विरल संधि की एकात्म संतृप्ति भी है। इसमें साथ बैठने या मात्र सटने का सतही सुख ही नहीं, प्राणों की पारस्परिक झंकृति के एक ही तरंगदैर्घ्य पर

पुलकित होने का आनन्द भी है। इसमें नारी-पुरुष का लौकिक गठबन्धन पर्याप्त नहीं है, चेतना के एक ही बिन्दु पर दोनों का उन्मद प्रस्फुटन अनिवार्य है। झिलमिल तुषार की थिरकन से आकाश गंगा की कल-कल ध्वनि तक पुरुष और प्रकृति की नित्य क्रीड़ा चलती रहती है। दोनों के संगम का चरम उत्कर्ष शिव की ज्योति-समाधि है। यह अकारण नहीं है कि वैज्ञानिकों ने प्रकाश को भी दो विपरीत-ध्रुवी कणों (न्यूट्रिनो और ऐंटिन्यूट्रिनों) के संयुग्मन का परिणाम माना है। वस्तुतः, जहाँ विह्वल प्राण स्थूल पदार्थ का अतिक्रमण करते हैं, सत्य मोहक सपनों की सीमा पार करता है और जहाँ यथार्थ रसमयी कल्पना की उत्तर-भूमि में प्रवेश करता है, वहीं अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा आकार ग्रहण करती है।

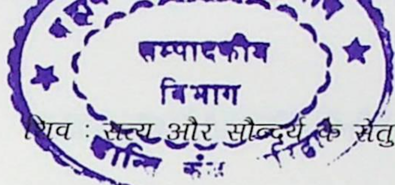
जब कभी अपने भीतर प्रत्येक कोशिका में बैठी नारी का बोध होता है तब सारी प्रकृति के स्पन्दन में मधुमास की काकली फूट पड़ती है। जीवन-सहचरी के विमुग्ध आलिंगन की अनुभूति में स्वयं को पूरी तरह पाने का सुख निहित रहता है। रजनी की पलकों पर धूप के बिंबों की अपनी ही छवि होती है। वासन्ती पवन की चाँदनी में नहाई लहरों पर लिखी कविता का अलग ही छन्द होता है। आत्मरति के ध्वनित एकान्त की भाषा ही कुछ और होती है। तर्क की तिर्यक् रेखाओं के बीच विश्वास की सरस्वती बहती है। शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का संकेत इसी श्रद्धा की नदी में स्नान करने से है और तब लगता है जैसे आधी रात के सूर्य की आभा पूनम की ज्योत्सना बनकर बिखर गयी है।



शिव : सत्य और सौन्दर्य के सेतु

सारी सृष्टि ब्रह्म का निःश्वास है। सारी गतियाँ अव्यक्त पुरुष की लीलाएँ हैं। संपूर्ण विश्व अविकल चैतन्य का उल्लास है। सर्वत्र अनादि तत्त्व के आनन्द की प्रतिध्वनि है। विराट सृष्टि में अगर मंगल की वृष्टि न हो तो कहीं प्राण-तत्त्व की हरियाली ही न दिखाई दे। उस अकल ब्रह्म की एक ही लालसा रहती है कि वह अनेक होकर विश्व में बिखर जाय और असीम व्योम की कणीय सत्ता में अव्यक्त का कंपन बनकर व्याप्त हो जाय। यही कंपन कभी शब्दों में ढल जाता है, कहीं हवा में उछल जाता है, कभी प्रकाश में पिघल जाता है और कहीं पानी के स्वर में बदल जाता है। जैसे भी हो, सृष्टि का सौभाग्य है कि उसे ब्रह्म की करुणा अकारण प्राप्त हो जाती है। ब्रह्म की यही करुणा और सहज उल्लास की मंगल-भंगिमा शिव के स्वरूप में उभर आती है। वस्तुतः, 'विश्व' शब्द ही उलट कर 'शिव' हो जाता है जो वैदिक प्रतीक-योजना के अनुसार सृष्टि के पूर्वार्द्ध तत्त्व की ओर संकेत करता है। यही कारण है कि विश्व-रचना के सारे अवयवों में शिव का प्रतिबिंब झलकता है। दार्शनिक मान्यता है कि दर्पण की भिन्नता से प्रतिबिंब में विकृति आ सकती है, लेकिन बिंब की एकरूपता बाधित नहीं होती। इसीलिए, जगत् की सारी जटिलताओं, रूप-कुरूप की सभी विधाओं और बढ़िया-बाउर की सारी श्रेणियों में व्याप्त रहकर भी शिव इन सबसे नितान्त निर्लिप्त, आत्म-सत्ता में समाधिस्थ और 'अविभक्तं विभक्तेषु' बने रहते हैं। कहने वाला चाहे जितना बड़ा ब्रह्मा ही क्यों न हो, शिव की महिमा के आगे उतना ही छोटा पड़ जाता है।

शिव समष्टि की मूल-चेतना के प्राण-पुरुष हैं। वे सृष्टि की सारी सूक्ष्म संवेदनाओं और सात्त्विक अनुभूतियों के बिन्दु-रूप हैं। जैसे हृदय के उत्पल आकाश में एक ही क्षण मंजरियों की सुरभि, सन्ध्या की छवि, पपीहे की पिहक और अंगूर की मिठास भर जाय और सारी तन्मात्राएँ एक ही साथ



विभोर हो उठें तो प्राणों में अमृत का उन्माद छलक उठता है। शिव के स्वरूप से एक ऐसा ही अनूठा भाव टपकता है — जहाँ आनन्द है, स्खलन नहीं है; थिरकन है, उद्वेग नहीं है; कोमल सिहरन है, विक्षोभ नहीं है और स्निग्ध ऊर्जा का मधुर उद्वेलन है, लेकिन अशांति नहीं है। स्वयं शान्त रहने में दिव्यता है, लेकिन उदात्त देवत्व नहीं है। प्रशान्त देवत्व को श्रुतियाँ 'महती दिव्यता' कहती है। शिव केवल स्वयं शान्त नहीं रहते बल्कि सारे विश्व का विष-कल्मष पीकर सारे लोक-संताप का शमन भी करते हैं और अपने वैसे ही जैसे-के-तैसे रहते हैं, समाधि-चेतना में लीन — "धरे शरीर शान्त रस जैसे"। वस्तुतः, शिव किसी मात्रा की सीमा में भरने वाले नहीं, तन्मात्राओं के सन्धि-बिन्दु पर स्वयं उतरने वाले देवता हैं। शिव मंगल, माधुर्य और सुखद सौन्दर्य की शान्त, समृद्ध गरिमा के वाहक हैं। द्युलोक से जो शुभ्र प्रभा झरती है, रात्रि-सिन्धु के मंथन से जो नव्य-दिव्य सोम निकलता है, असीम आकाश से विराट प्राण का जो संगीत फूटता है, उषा अपने उदार लालित्य का जो विपुल वैभव बिखेरती है और दूधिया चाँदनी के तरल फैलाव में जो लहरें उठती हैं वे सब, और कितना कुछ और भी, शिव के विग्रह में सहजता से व्याप्त रहते हैं। इसीलिए, शिव को महती दिव्यता का द्योतक या 'महादेव' कहा जाता है।

शिव सत्ता के सनातन शिखर पर अवस्थित रहते हैं। उनका स्वरूप चिन्मय है, पूर्ण और पवित्र है, ऊर्ध्वमुखी और उन्मुक्त है। अन्य देवता विभक्त सत्ता में निवास करते हैं, शिव अखंड विशालता में विश्राम करते हैं। अन्य देवताओं की भक्ति की जा सकती है, शिव तो मात्र मुक्ति के प्रतिरूप हैं, केवल बोधगम्य हैं, आगम-निगम से अतीत हैं। शिव के साथ 'पाना' नहीं केवल 'होना' क्रिया सार्थक है। अन्य दैवी शक्तियों में और शिव की तैजस् ऊर्जा में वही अन्तर है जो दीप्ति और आलोक में होता है। दीप्ति आत्म-संभूति की उज्ज्वलता है, आलोक आयातित और परावर्तित ज्योति का बाहरी फैलाव है। शिव अपनी ही आंतरिक दीप्ति से भरपूर लगते हैं। सभी देवताओं को अमरत्व प्रदान किया जाता है, शिव विषपान करके भी मृत्युंजन बने रहते हैं और स्वयं अमरत्व के विधायक बन जाते हैं। इसलिए, शिव की

महिमा वाणी से बड़ी है। वस्तुतः, वे सृष्टि के उस आत्यन्तिक बिन्दु की गरिमा व्यक्त करते हैं जहाँ सत्ता अपनी भौतिक सीमा का अतिक्रमण करती है और अव्यक्त सत्ता व्योम के सोपान से उतर कर दृश्य पदार्थ की परिधि में प्रवेश करती है। जब कभी अनन्त सीमित विस्तार में बँधता है उसे शिव के विग्रह का रूप लेना पड़ता है। वे दिव्य चेतना की अमित विस्तीर्णता और उसकी तात्त्विक संरचना के बीच विद्युत्-सेतु के प्रतीक हैं।

जगत् के समस्त विस्तार में, घटनाओं की अटूट श्रृंखला में और क्रियाओं के जटिल ऊहापोह में एक नियत सत्य की चेतना निवास करती है। प्रत्येक सूक्ष्म विप्लव के भीतर कहीं कुछ नितान्त नियमित है। किन्हीं दो अनुवर्ती घटनाओं के बीच पुनीत सम्बन्धों की शाश्वत उपस्थिति को वैज्ञानिक शब्दावली में 'नियमितता' कहा जाता है। सृष्टि के बहके, बिखरे पिंड-पाखंड के भीतर नियमितता की खोज सारे वैज्ञानिक अन्वेषणों का मूल आधार है। इन्हीं नियमित सूत्रों के ज्ञान से हम किसी घटना को प्रभावित करने या उसके परिणाम का आकलन करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। ये सूत्र कभी गणितीय समीकरणों की सरलता में, कभी किसी पवित्र अनुपात की विरलता में और कभी कार्य-कारण की तार्किक तरलता में अनायास प्रकट होते हैं। किसी वस्तु का निर्धारित ऊँचाई से छोड़ दिए जाने पर पृथ्वी पर गिरना नियमितता है, गुरुत्वाकर्षण नियम है। तप्त पदार्थ से प्रकाश का विकिरण नियमितता है, विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का मैक्सवेल-समीकरण नियम है। समय के साथ हर चीज़ का छीजना नियमितता है, एन्ट्रॉपी की वृद्धि नियम है। जहाँ नियम निर्वीर्य हो जाते हैं, वहाँ नियति सृष्टि की संचालिका हो जाती है। नियति काल की अनुचरी है। यदि कोई वस्तु स्वयं अपनी नियति पर छोड़ दी जाय तो वह निरन्तर विशीर्ण होती हुई अन्त में अपनी पहचान भी खो देती है। वस्तुओं के निरन्तर क्षरण के कारण ही काल का बोध उत्पन्न होता है।

समय के साथ हरा-भरा जंगल वीरान हो जाता है। वर्षा की बूँदों के आघात से पर्वत घिसकर रेत बन जाता है। आतप के प्रहार से कोमल लताएँ सूखकर झाड़ी-तिनकों में बदल जाती हैं। समय की मार से शैशव की सुकुमार त्वचा झुर्रियों में परिवर्तित हो जाती है। भारतीय मनीषा चीज़ों के

टूटने, बिखरने या विलीन हो जाने को वृद्धि या विकास का नहीं, ह्रास और क्षय का लक्षण मानती है। काल के कारण विश्व में क्षय की प्रक्रिया भले चलती रहे, लेकिन काल स्वयं अक्षय है। शिव इसी अव्यय काल के प्रतीक हैं। कालजयी चेतना ही अमरत्व का आधार बन सकती है। यही प्रज्ञा का वह अंतिम सत्य है जिसे समाधि की संज्ञा दी जाती है। समाधि में चेतना काल का अतिक्रमण करती है। जहाँ दिशाएँ स्तब्ध हो जायँ, आकाश नीरव हो जाय, काल का कंपन ठहर जाय और चेतना अपनी चिरन्तन चारुता के बोध में संलीन हो जाय वहीं समाधि उदित होती है। यह किसी निष्क्रिय शून्यता की स्थिति नहीं है, शान्त पूर्णता की परिणति है। एक रसवंती ज्योत्स्ना के दूधिया आलोक से भरा-भरा आकाश, पंचम स्वर की उठान पर ठहरा-ठहरा जंगल, अनन्त के चुंबन से सहमा-सहमा सागर, अमित माधुर्य के आलिंगन से निस्तरंग नदी और अगाध आनन्द से आत्म-विभोर मन सभी मिलकर समाधि का धुँधला संकेत देते हैं। शिव समाधि-चेतना के जीवन्त प्रतिरूप हैं। काल की परिभाषा से परे हैं। सच कहा जाय तो वे काल के नियामक हैं और, एक शब्द में, 'महाकाल' हैं।

आम तौर पर, सापेक्ष काल का प्रवाह कारण से कार्य की ओर होता है। इसी सन्दर्भ में, काल क्षय और क्षरण का रूप ले लेता है। पदार्थ अणु में, अणु परमाणु में, परमाणु न्यूक्लीय कणों में, सूक्ष्म कण ऊर्जा में, ऊर्जा आकाश में और आकाश निरपेक्ष काल में अपने अस्तित्व को विसर्जित कर देते हैं। वस्तु-जगत् में कारण से कार्य की ओर गति को ही मृत्यु कहा जाता है। इसके विपरीत अगर कार्य की धारा कारण की ओर बहने लगे तो जीवन की संभावना में प्रकट हो जाती है। ऐसी स्थिति में, देह प्राण में, प्राण मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अहंकार में और अहंकार उत्तर चेतना में क्रमशः विलीन हो जाते हैं, सोऽहं का दंभी दर्प-व्यामोह के पिंजरे से उड़कर ब्रह्मलोक का हंस बन जाता है और तब चेतना को अमरता का स्वाद मिलने लगता है। दृश्य लोक में काल की गति अतीत से अनागत की ओर होती है। यह छीजन, क्षरण और मरण की दिशा है। लेकिन, चेतना के क्षेत्र में जब काल की दिशा विपरीत होती है तब अमरतव की संभावना के आयाम खुलते हैं।

काल के इसी विपर्यय में अमरत्व का सूत्र निहित है। उपनिषदों में इसे 'मधु-विद्या' कहा गया है। यह प्राणों के निरीह विशीर्णन की नहीं, उनके ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रक्रिया है। इस विद्या की उपासना से अनिर्वचनीय आनन्द की हिलोर समष्टि के पुलिन को चूमने लगती है। तब, पवन मदिर होता है, सिन्धु माधुर्य का स्रोत बन जाता है, अंबर मादक छन्द से भर जाता है और औषधियाँ माधवी प्रसन्नता से पूर्ण हो जाती हैं। शाश्वत आनन्द की अनुभूति का क्षण शिवत्व की पहली पहचान है। दार्शनिक दृष्टि से, किसी वस्तु की अपनी 'सत्ता के सांतत्य में अनवरत उपस्थिति' ही काल है। समाधिस्थ शिव की कल्पना इसी काल की मूर्त व्यंजना है। इसीलिए, काल-कूट को आत्मस्थ करने वाले शिव को 'महाकाल' कहा जाता है।

सत्य और सौन्दर्य के आपात संयोग से उठने वाली पुलक की संज्ञा शिव है। शिव विराट आनन्द के एकान्त द्वीप हैं, अक्षय सुख के दिव्य-सेतु हैं, उदात्त प्रहर्ष के प्राण-स्फुरण हैं। जब सौन्दर्य से सत्य की उत्तान झंकृति फूटती है तब शिवत्व का सात्त्विक संगीत सुनाई पड़ता है। मानवीय संवेदनाओं की संकीर्णता के कारण पदार्थ-जगत् में सत्ता विभक्त दिखाई देती है, चीज़ें अच्छी या बुरी लगने लगती हैं, सुन्दर-असौम्य की सीमा-रेखायें उभर आती हैं और मन अपनी प्रकृति या रुचि के अनुरूप सौन्दर्य की परिभाषा गढ़ लेता है। किसी आकृति की संरचना पर आधारित सौन्दर्य की परिभाषा नितान्त वैयक्तिक होती है। इसीलिए, एक ही रूप पर सबका मुग्ध होना जरूरी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सौन्दर्य को अपने व्यामोह के दर्पण में देखता है। इस माया-दर्पण में लोढ़े-मूसल जैसी मुखाकृति वाला भी अपने अहोरूप पर धन्य रहता है। नारद जैसे देवर्षि भी ऐसी आत्म-रति की छलना से वंचित नहीं रह पाते। लेकिन, जिसे शिव का सान्निध्य मिल जाता है उसके लिए व्याज सौन्दर्य की भ्रान्ति से पीड़ित व्यक्ति नर्म-हास्य का विषय बन जाता है। माया नगरी की सुन्दरी का स्वयंवर और नारद का भ्रम सौन्दर्य की समीक्षा का बड़ा मार्मिक स्थल है। नारद चंचल हैं, व्यग्र और उतावले हैं कि परम सुन्दरी उनके गले में जयमाला डालने में विलम्ब क्यों कर रही है और यह समझ नहीं पाते कि प्रभु ने कृपापूर्वक उन्हें बन्दर की आकृति ही नहीं

तदनुरूप आचरण की विवशता भी दे दी है। उनके उपेक्षित दर्प की कल्पना कीजिए जब — "जेहि दिशि बैठहिं नारद फूली, तेहि दिशि सो न बिलोकति भूली।" नारद की प्रगाढ़ अस्मिता उन्हें बोध ही नहीं होने देती कि उनके व्यामोह के गुब्बारे में कितनी बार सूई चुभ चुकी है। शिव के गणों के लिए सौन्दर्य की ऐसी विडम्बना प्रच्छन्न हास्य का उद्दीपक है — "पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं, देखि दशा हर गण मुसकाहीं" (*रामचरितमानस*, बालकाण्ड, दोहा 134, चौ० 1,2)। नारद-मोह सौन्दर्य और सत्य का बड़ा रमणीय प्रकरण है जिसका पर्यवसान शिव की मंगलमयता में होता है।

वस्तुत: प्रत्येक जीवात्मा के भीतर अरूप की सत्ता निवास करती है। आकृतियाँ चाहे जितनी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बँध गई हों, चेहरे चाहे जिस टूटे-फूटे साँचे में ढल गए हों, आँखें समता के व्यंग्य की तरह हों, नासिका त्रिभुज के विद्रोह जैसी हो, कपोल सूखे करैले जैसे हों, होंठ बन्द घोंघे जैसे हों और जो कुछ भी जितने भी व्यतिरेक से कलंकित हो, तब भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व के किसी कोण से आन्तरिक सौन्दर्य की आभा फूटती रहती है। कभी ज्ञान की प्रांजलता में, कभी संवेदना की सुकुमार व्यंजना में, कभी दृष्टि के तंद्रिल आलोक में, कभी स्वरों के उदात्त सन्तुलन में और कभी भावों के स्वप्निल सम्मोहन में एक विचित्र आकर्षण की झलक मिल जाती है। सृष्टि की सारी विधाओं के नेपथ्य में आत्म-तत्त्व के माधुर्य की मंगल छवि छिपी रहती है। जहाँ रूप-राशि का रस-वर्षण कम होता है वहाँ अरूप की आन्तरिक सौम्यता का आकर्षण अधिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्लोक में जिस तेज और आकाश की गंग-जमुनी हिलोर उठती है वह किसी भी स्थिति में रमणीय होती है जो अक्सर मन के किसी गहन गुद्‌गुदी के स्थल को भीतर से सहला देती है। निष्पाप सौष्ठव की मर्यादा का वास्तविक बोध तब होता है जब व्यक्ति रूप के सतही सोपान से उतर कर 'स्वरूप' की पहचान पर ठहर जाता है। 'स्व' का कोई रूप नहीं होता, केवल सत्ता होती है। यही सत्ता जब बाह्य रूप में व्याप्त होती है तब जो भाव उठते हैं उन्हें सौन्दर्य की सरणि में रखा जाता है और जब बाह्य रूप अन्त:सत्ता में तिरोहित हो जाता है तब शिवत्व का बोध विकसित होता है। यह सौन्दर्य के सत्य में

रूपान्तरण का क्षण होता है। प्रत्येक वस्तु की आन्तरिक चारुता की प्रतीति ही शिवत्व है।

सामान्यत:, व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की अवधारणा स्वयं उसकी अपनी प्रकृति और आकृति के अनुरूप होती है। आकृति-विज्ञान के अनुसार हर आदमी के चेहरे में किसी न किसी पशु या पंछी की आकृति का बिम्ब उभरता है किसी के चेहरे से गृद्ध की, किसी से लोमड़ी की, किसी से अश्व की, किसी से वृषभ की, उलूक की, शुक-सारिका, श्रृंगाल-मार्जार बन्दर या सिंह आदि की मुख-संरचना की एक धुँधली-सी छाया छिपी होती है जो पुरातन संस्कार और पूर्वजन्म की किसी स्मृति के रूप में अवचेतन की पर्तों में दबी रहती है। यही स्मृति अचानक किसी पुलक भरे परिवेश में उभरती है तब मन में एक मधुर विद्युत् की तरंग उठने लगती है। इसी सन्दर्भ में महाकवि कालिदास ने कहा था-

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
यच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भाव स्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।।

(*अभिज्ञानशाकुन्तलम्*, 5, II)

अर्थात्, ''सुन्दर दृश्य को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर किसी व्यक्ति के मन में जो सुख का भाव उठता है, वस्तुत: वह अवचेतन में छिपे किसी पूर्व-जन्म के संस्कार का आकस्मिक प्रस्फुटन होता है।'' आकृतियों का सौन्दर्य जब गुणवत्ता की सीमा में प्रवेश करता है तब बाहरी रूप-रचना का आडम्बर व्यर्थ हो जाता है। तब, एक नि:संग आत्मीयता का भाव उठता है। कृष्ण ने गीता में कहा है — ''गुणा: गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते'' — ''गुणों की गति गुणों में ही होती है, अत: अनासक्त भाव से जुड़ना ही श्रेयस्कर ह'' (*गीता* III, 28)। गुणों की मर्यादा जब प्राणिक सत्ता में प्रतिष्ठा पा लेती है तब बाह्य सौन्दर्य की दीवारें ढह जाती हैं। गुणवती रमणी के समक्ष उर्वशी की सुन्दरता अपना अर्थ खो बैठती है। रूप की रुचिरता अरूप

के आनन्द में विलीन हो जाती है। दैहिक आकर्षण के बिखर जाने पर सौन्दर्य गुणों के गांभीर्य पर आश्रित हो जाता है। तब मन आपात मधुर की ओर नहीं दीर्घ मंगल की ओर आकृष्ट होता है। सम्पूर्ण सृष्टि में विपुल मंगल-बोध ही शिवत्व का प्रथम स्फुरण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य की एक बड़ी अर्थपूर्ण घोषणा है — "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (*बृ० उप०* II, IV, 5) । अर्थात् "सबके लिए सबकुछ प्रिय नहीं होता। केवल अपने लिए सब कुछ प्रिय होता है।" जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति के भीतर आत्मरूपता के दर्शन होते हैं वहीं प्रियता की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। जहाँ अपना प्रतिबिम्ब झलकता है, अपने स्वार्थ-सिद्धि की संभावना दीखती है और जहाँ अपने प्राणों की अनुरूपता का भाव उठता है, वहाँ एक सहज आसक्ति की सुरीली लहर उतपन्न होती है जो मस्तिष्क की कोमल शिराओं को झंकृत कर जाती है। इसी मानसिक झंकृति को सौन्दर्य की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः, सौन्दर्य की संवेदना में, सुखों की सिहरन में, आनन्द के अतिरेक में सर्वत्र व्यक्ति अपनी ही अन्तःसत्ता का आलोक खोजता है। अपनी मानसिकता जिस व्यक्ति से जुड़ जाती है वही अपना प्रिय बन जाता है। प्रिय को पाने की कामना भी आत्मबोध की ही प्रक्रिया है। लेकिन, कामना जहाँ अपनी पवित्रता खोकर गर्हित वासना के प्रभाव-क्षेत्र में चली जाती है, वहाँ बोध दुबक जाता है, अविद्या दबंग हो जाती है। शिव के अनुग्रह से ही जीवन की इस विडम्बना का अन्त संभव है। जब सौन्दर्य की परिभाषा गुणों के प्राचल में बँध जाती है तब सुन्दर-कुरूप का प्रश्न गिर जाता है, आकृतियों की छलना ध्वस्त हो जाती है, सतही आकर्षण का व्यामोह शिथिल पड़ जाता है और चेतना भावों की उदार परिमा में प्रवेश करती है। तब, वृक्षों की सुघर संरचना में नहीं उनकी शीतल छाया और उनके सुस्वादु फलों की संभावना में सुख मिलता है, पुष्पों का दृश्य सौन्दर्य नहीं, सुरभि का अदृश्य औदार्य आकृष्ट करता है, फलों का अभिराम रूप नहीं उनके रस की मिठास लालायित करती है। ऐसी स्थिति में, सौन्दर्य बाहरी आवरण की अलंकृति में नहीं,

अन्तःकरण की दिव्य अनुभूति में उभरता है। इसी स्थल से विराट सत्ता की विविधता में अद्वैत की लोकातीत रसमयता का संकेत मिलने लगता है, स्थूल सूक्ष्म में समाहित होने लगता है, मात्रा तन्मात्रा में तिरोहित हो जाती है और अक्षर से अर्थ की उजास फूट पड़ती है। वेदान्त की शब्दावली में इसे 'चिति-तन्मात्रा' कहा जाता है।

वैदिक मनीषा, भौतिक सन्दर्भ में, ऊर्जा और ज्योति के संयोग से निर्मित ज्यामिति को रूप-रचना का आधार मानती है — "ज्योतिर्निबद्धो बलमस्ति रूपम्"। शक्ति और प्रकाश के समीकरण का लालित्य ही सौन्दर्य है। लेकिन, सौन्दर्य-बोध के लिए इस लालित्य के प्रति चिति-तन्मात्रा की सहानुभूति अनिवार्य है। बाहर-बाहर सब कुछ सुन्दर रहने पर भी यदि किसी बिम्ब की ज्यामिति को अनुभावक के हृदय की स्वीकृति नहीं मिली तो रूप व्यर्थ पड़ा रह जाता है। आकृति-विज्ञान की मान्यता है कि जिसका अपना रूप जैसा होता है उसे उसी कोटि की मुखाकृति मोहक लगती है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने जैविक विकास की सरणि में किसी दूसरे के भीतर अपनी आकृति की खोज करता है और जहाँ उसे अपनी आत्म-रति का पूरक या पर्याय दिखाई देता है उसके प्रति तात्क्षणिक अनुराग का उद्‌भव होता है। यदि जैविक श्रेणी ही भिन्न हुई तब तो सौन्दर्य-बोध का धरातल ही भिन्न हो जाता है। एक व्यास-कथा अक्सर सुनी जाती है कि श्रीराम के लंका-युद्ध के पश्चात् वानरों के मन में जिज्ञासा उठी कि आखिर वह कैसी सीता हैं और कितनी सुन्दर हैं जिनके लिए इतना भयंकर युद्ध करना पड़ा? राम वानरों की उत्कंठा के प्रति उदार हैं। सीता वानरों के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। बड़ी उछल-कूद के साथ वानर उन्हें ताक-झाँक कर देखते हैं और अन्त में कहते हैं — "सीता जी सुन्दर तो जैसी भी हों, लेकिन उनकी पूँछ तो है ही नहीं।" जाहिर है, जहाँ बन्दर सौन्दर्य के समीक्षक होंगे वहाँ सारी कथा पूँछ पर ही ठहरेगी।

कभी-कभी सौन्दर्य के साथ उपयोगिता का प्रश्न भी उठता है। ऐसे प्रश्नों से सौन्दर्य-बोध की गरिमा आहत होती है। भौतिक दृष्टि से स्थूल की उपयोगिता अधिक होती है, लेकिन मानसिक परिदृश्य में, सूच्मतर में आन्तरिक

तृप्ति की मात्रा अधिक होती है। कला की मूल अवधारणा है कि उसके उपादान जितने सूक्ष्म होंगे सौन्दर्य की विभावना उतनी ही गहरी होगी और कला के उपकरण जैसे-जैसे सूक्ष्मतर होते जाएँगे रचना का लालित्य उतना ही निखरता चला जाएगा। किसी मोची के जूते की 'कीमत' भले ज़्यादा हो, बढ़ई की कुर्सी चाहे जितनी महँगी हो लेकिन किसी रंगकर्मी की चित्रकला का 'मूल्य' निर्विवाद रूप से अधिक होगा। भाव-तत्त्व को भौतिक उपयोगिता की परिधि में खींचने का अर्थ है मूल्य को कीमत की श्रेणी में रखना और मनुष्य की बृहत्तर चेतना को पदार्थ की सीमा में बाँधने का प्रयास करना। वैसे, सौन्दर्य वही सर्वोत्तम होता है जहाँ रूप से रस टपकता है और रस से अधिक उपयोगी सत्ता सृष्टि में नहीं है। रस वस्तु-सत्ता का आन्तरिक सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बाहरी रूप-रचना, रंगों की प्रसन्न पारदर्शिता या आकृतियों के ज्यामितिक सौष्ठव में नहीं, बल्कि मृदुल स्वभाव की पवित्रता में, वाणी के मधुर संयम में और संयत आचरण की दिव्यता में होती है। यही आंतरिक सौन्दर्य का स्पन्दन शिवत्व का मूल स्वर है। पादप की हरीतिमा, फूलों की सुगंधि और फलों की मिठास सबके मूल में उस रस का सारांश होता है जो धरती की उर्वरा, सलिल की आर्द्रता, पवन के उछ्वास एवं आकाश के विरल कंपन के संयोग से निर्मित होता है। सृष्टि की सारी व्यंजना में उस एकल तत्त्व के एकत्व का ऐश्वर्य परिलक्षित होता है जिसे सत्य की संज्ञा दी जाती है।

सम्पूर्ण विश्व के असीम विस्तार में सत्य की अंतर्व्याप्ति है। सृष्टि के बिन्दु-तत्त्व के फैलाव के लिए जो शक्ति उत्तरदायी है उसे 'माया' कहा जाता है। अतः, सृष्टि की मायिक रचनाओं में भी मूलतः सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है। जहाँ कहीं एकत्व का बिखराव है, सूक्ष्मतम का बृहत्तर भाव है और अरूप का रूपान्तरण है वहाँ ब्रह्म का आभास है। मनुष्य की कुछ ऐसी विवशता है कि उसे अपनी आत्मिक सत्ता को वस्तु जगत् से पृथक् मान लेना पड़ता है और इसी अलगाव को लौकिक अर्थ देने के लिए माया की अवधारणा विकसित करनी पड़ती है, वरना मात्र ब्रह्म ही स्वयं को सबके भीतर ध्वनित करने के लिए पर्याप्त है। और, चूँकि ब्रह्म

की निष्ठा ही सत्य की सारस्वत परिभाषा है, अतः सृष्टि में किसी भी वस्तु के असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र से ब्रह्म को अनुपस्थित मान लेने पर केवल परिधि की वंचना शेष रह जाती है जहाँ वस्तुएँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न प्रतीत होती हैं और इन भिन्नताओं के पारस्परिक संबंध की सिद्धि के लिए उनके बीच कार्य-कारण की श्रृंखला खड़ी करनी पड़ती है। कार्य-कारण की तार्किक व्यंजना से सार्वत्रिक एकत्व की मर्यादा आहत होती है और साथ ही सत्य और असत्य की समस्या सिर उठाने लगती है। जहाँ विशुद्ध ब्रह्म-दृष्टि का वर्चस्व होता है वहाँ सब कुछ सत्य लगता है।

अपने विराट उदर में असंख्य नीहारलोक को समेटने वाली सर्वनिवेशिनी रात्रि सत्य है। तमसाच्छन्न अन्तरिक्ष का वक्ष चीर कर अपनी दिव्य ज्योति का उद्घोष करने वाला सूर्य भी सत्य है। अंबर के अम्लान कपोल पर भोले शिशु की मुस्कान जैसी उषा का फूटना बिखरना सत्य है, सान्ध्य आकाश के सीमान्त पर निस्तेज अग्नि-गोलक का टूटना, बिखरना भी सत्य है। ऊँचे पर्वत की बर्फीली चोटियों पर उड़ते सपुच्छ व्याल-सी छाया सत्य है, गहरी घाटियों में फैली धुन्ध की माया भी सत्य है। पवन के तीव्र आवेग में उड़ते सुपर्ण की संतुलित गति सत्य है, कुहरीली चाँदनी की शान्त झील पर उतरती निस्पन्द शान्ति भी सत्य है। आधी रात के जंगल की स्वप्निल निस्तब्धता सत्य है, अछोर बंजर की उत्तप्त दुपहरी में मृग-जल की उपलब्धता भी सत्य है। पाटल कुसुम पर भौरों का मृदु-मन्द गुंजरण सत्य है, रंग-बिरंगी तितलियों के पंखों में कांटों की चुभन भी सत्य है। सावन की बिजुरी-छुई बदरी का झूम-झूम बरसना सत्य है, चातक का स्वाती की बूंदों के लिए तरसना भी सत्य है। अज्ञात यौवना के प्रथम स्फोट का आमंत्रण सत्य है, असंभव कामनाओं का करुण नियंत्रण भी सत्य है। सागर की मधुर लहरों का हाहाकार सत्य है, शिशिर की भोर में दूब की फुनगी पर ओस की फुहार भी सत्य है। संपूर्ण आकाश की अनन्त सत्ता में कोमल गान्धार के स्वर का समाना सत्य है, वृक्ष के एकान्त नीड़ में पक्षि-शावक की चोंच में दबा दाना भी सत्य है।

चेतना पर जब सत्य की छाया पड़ती है तब हृदय के नील सरोवर में अलौकिक बिंबों के सहस्र शतदल खिल उठते हैं, प्रकृति की सारी विधाओं में अपूर्व समदर्शिता का भाव भर जाता है और आकृतियों की कतर-ब्योंत में भी प्रच्छन्न कमनीयता के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। तब उत्तम-अधम, श्रेष्ठ-निकृष्ट, पाप-पुण्य, सिकता-स्वर्ण, तैजस्-तमस्, कीच-कमल आदि सारे उपादानों में एक आन्तरिक आत्मीयता विकसित हो जाती है। प्रकृति की ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिस पर परम ब्रह्म के श्री-चरणों की छाप न हो। आत्मबोध के अभाव और खंडित सत्य की मोहक यथार्थता में निरन्तर आबद्ध रहने के कारण मन उस अमित आनन्द से अछूता रह जाता है। इस अनछुए आनन्द के लिए प्रत्येक जीवात्मा में एक अबूझ छटपटाहट छिपी रहती है। श्रुतियाँ ब्रह्म को जीवात्मा की पुच्छ-प्रतिष्ठा के रूप में अंकित करती है। उपनिषद् की शब्दावली में — "प्रिय ही उसका शिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है" (*तैत्तिरीयोपनिषद्*, अनुवाक् 5,1)। आनन्द ही जीवन का सन्तुलन बिन्दु है। इसी बिन्दु पर शिवत्व का प्रासाद निर्मित होता है। प्राणों के पंछी जिस आकाश में उड़ते हैं, मन की मैना जिस डाल पर 'चहुँपियों' की रट लगाती है, जहाँ चेतना अपनी चारुता के दिव्य जल में स्नान करती है, वहीं शिवत्व की अनुभूति का आयाम खुलता है।

शिव की रुचि और अलंकृति की कथा भी कितनी विचित्र लगती है! सोचने की बात है कि बेल के पत्तों और धतूरे के फूलों में कैसा सौन्दर्य है? सर्प की माला में कैसा सुख है? बसहा बैल में कौन-सी खास बात है? व्याघ्र-चर्म के आसन में क्या विशेषता है? मस्तक पर अर्द्ध-चन्द्र को धारण करने में क्या धरा है? देह पर श्मशान की जली चिताओं के अस्थि-भस्म लपेटने में कौन-सी प्रसाधन-प्रियता है? हिमालय की उपल-विषम, ऊबड़-खाबड़ चट्टानों में कैसा आकर्षण है? लेकिन, इससे अधिक गंभीरता से सोचने की बात है कि बिल्व पर्ण के रस में कितनी दिव्य औषधि है? साँप के विष में अमृत-तत्त्व की कितनी मधुर संभावना है? वृषभ की ऊर्जा में जीवन के आनन्द की कितनी अपार समृद्धि है? व्याघ्र-चर्म में मृदुलता का

कितना अहिंसक विस्तार है? चन्द्रमा की ज्योति में प्राणों के स्फुरण का कितना मंगल आलोक है? श्मशान के भस्म में निर्वेद और वैराग्य का कितना आत्मरंजक प्रसाद है? हिमालय की चट्टानों में शीतल पवित्रता का कितना घनीभूत देवत्व है। शिव कोई ऐसे-वैसे देवता नहीं हैं। उनके स्मरण मात्र से लगता है, चन्दन-वृक्ष की छितनार शाखाओं से चाँदनी की फुहार झर रही है और जीवन की व्यर्थता से आहत चित्त पर अमरत्व का बिन्दुपात हो रहा है। उनकी जटिल केशराशि के स्पर्श से गंगा का पानी अमृत बन जाता है। उनके डमरू की डिम-डिम ध्वनि से वाक्-तत्त्व का स्रोत फूटता है। उनके नृत्य की विधा से पराव्योम में मधु-विद्युत् की लहरें उठती हैं, क्वांटम कणों का प्रकीर्णन होता है और सारा आकाश रजस् की कंपनिक आवृत्तियों से भर उठता है। उनके अंग-अंग से आंतरिक गुणवत्ता का छन्द छलकता है, उनकी शान्त-प्रसन्न काया से ऋत-संगीत का संतुलित वितान व्यक्त होता है और उनकी सौम्य समाधि से आत्म-संभूति का महामंत्र स्फुटित होता है।

शिव बाह्य सौन्दर्य के नियन्ता नहीं है, आन्तरिक माधुर्य की विपुलता के प्रतीक हैं। वे किसी सलोनी संज्ञा के स्वामी नहीं हैं, सात्त्विक प्रज्ञा के अधिपति है। वे मोहक विशेषणों के वाहक नहीं है, मनोज्ञ कैवल्य के संवाहक हैं। शिव विद्रूपता के व्याकरण नहीं हैं, अनुपम सौन्दर्य के सनातन संस्करण हैं। पदार्थ-जगत् के आलोक में भिखारी दीखने वाले शिव वस्तुतः भाव-जगत् के युवराज हैं और वास्तविक सम्राट वही है जो अपना सिंहासन फकीरों के लिए छोड़कर स्वयं अकिंचन की भूमिका स्वीकार करता है, क्योंकि, तब जीवन के सत्य को अनावृत देखने की क्षमता प्राप्त होती है और उसे लगता है राजा प्रकाश में भी सोता रहता है और अकिंचन सघन अंधकार में भी जाग्रत् रहता है। वस्तुतः, अन्धकार के सत्य में ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है। एक सौन्दर्य रूपसी के अंग-प्रत्यंग में बसता है जो अभिभूत करता है, लेकिन एक और महत्तर सौन्दर्य है जो श्रमिक की सुगठित भुजाओं में निवास करता है। श्रेष्ठतम सौन्दर्य अन्तःप्रवाह के पटल पर प्रतिबिंबित होता है। यह सौन्दर्य बाँधता नहीं है, मुक्त करता है। सच कहा जाय तो वास्तविक सौन्दर्य वही है जो सत्य को देखने की शक्ति प्रदान करे। मनुष्य की जाग्रत्

अवस्था में जब कभी किसी क्षण चित्त मादक सौन्दर्य से अभिभूत होता है, मन में एक स्वप्निल आयाम का बिंब उभर आता है और लगता है सौन्दर्य खुली आँखों का सपना है। स्वप्न की अवस्था का यही छाया-प्रदेश सत्य को छिपा लेता है। लेकिन, चित्त की जो स्थिति जाग्रत् अवस्था की सौन्दर्य-दृष्टि को सीधे स्वप्न के पार ले जाती है और स्वयं चैतन्य सुषुप्ति पर ठहर जाती है वही सौन्दर्य के सत्य में निर्बाध रूपान्तरण के लिए सार्थक होती है। शिव जाग्रत् को सुषुप्ति से जोड़ने वाले समाधि-पुरुष हैं। इसीलिए, वे सत्य और सौन्दर्य के सेतु माने जाते हैं।

शिव की संकल्पना में आर्य ऋषियों ने कालातीत सत्ता के दर्शन किए थे और उसे सरल सारगर्भित बिंबों में बाँधने की चेष्टा की थी। शिव के अनुषंगी अलंकरणों से सृष्टि-रचना की बड़ी शुचि-रुचिर छवि उभरती है और उनसे सौन्दर्य बोध की दिव्य संवेदना की अलौकिक आभा फूटती है। लेकिन, सामान्य दृष्टि से लगता है जैसे शिव एक फूहड़ और औघड़ प्रकृति के प्रतिरूप हैं। सतही बुद्धि के बहकावे में आकर कुछ विचारक उन्हें अनार्य-संस्कृति के प्रतीकों का समेकित समवाय समझने की भूल करते हैं और उन्हें अनार्यों का देवता भी कह डालते हैं। वस्तुत:, शिव वैदिक देवता हैं और अनार्यों को 'अदेवयू:' कहा गया है, अर्थात् अनार्यों के देवता होते ही नहीं हैं। अत:, शिव को अनार्य-देवता मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। आर्य-मनीषा इस महान देवता को खुली आँखों से देखने का उद्घोष करती हैं। और, जब प्रश्न उठता है — "कहाँ देखा है?", तब वैदिक प्रज्ञा पराचेतना की काव्यशैली में अत्यन्त शालीनता से उत्तर देती है — "वहीं जहाँ आन्तरिक सत्य बाह्य यथार्थ ये आवृत रहता है, जहाँ सूर्य की गति-शक्ति स्तब्ध हो जाती है और जहाँ अनन्त किरणों का कोलाहल एकान्त शून्यता के शान्त बिन्दु में सिमट जाता है" —

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुंच्यन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुतदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्।।

(ऋग्वेद, V, 62, 1)

ऐसे देवता के दर्शन का प्रश्न कितना जटिल है, जिसे देखने में दृष्टि की संभावना शेष हो जाय, जिसे छूने में स्पर्श की अर्थवत्ता खो जाय और जिसे सोचने में चेतना शून्य में विलीन हो जाय? शून्यता और अनन्त के संगम-बिन्दु पर शिवत्व का कमल खिलता है। शून्य और अनन्त दोनों अनिश्चयवाची राशियाँ हैं। शून्य अभाव का अनन्त है और अनन्त समष्टि-भाव का शून्य है। अनन्त अशेष की अतिमा है और शून्य शेष की प्रतिमा है। शून्य अभाव का अतीत है और अनन्त भाव का भविष्य है। दृश्य जगत् की सारी घटनाएँ अनन्त से ऊर्जा ग्रहण करती हैं और थोड़ी देर ज्योति के संतुलित आयाम में नृत्य करती हुई शून्य में विलीन हो जाती हैं। इस शून्य और अनन्त के मध्ववर्ती अन्तराल का नर्त्तन अनेक मोहक छवियों की रचना करता है। इन्हीं रचनाओं में कभी सौन्दर्य की तरंग उठती है, कभी मंगलमयता का संकेत उभरता है और कभी सत्य की अन्तरा उठती है। वस्तुतः, सत्य एक प्रक्रिया है, कोई शाश्वत प्रतिष्ठा नहीं है, सौन्दर्य एक गत्यात्मक समीकरण है, कोई जड़ीभूत ठहराव नहीं है, और शिवत्व एक सेतु है जो दोनों के बीच सुनिश्चित मर्यादा का निर्धारण करता है।

सत्य की संधारणा जितनी सरल है उसकी समीक्षा उतनी ही जटिल है। जो सबके समक्ष स्वयं प्रकट है, संवेद्य है, स्पर्शनीय है उसे प्रयास से, बल से, चातुर्य से, कौशल से या बौद्धिक छल से छूना, पकड़ना या पाना उतना ही विकट है। सत्य प्राप्य नहीं है, पात्रता के अनुरूप तृप्ति का प्रतीक है। जहाँ अहंकार भरा है, छल-प्रपंच की लीला चल रही है, सब कुछ बटोर कर घर भरने की तृष्णा तरंग ले रही है वहाँ सत्य झाँकता भी नहीं है। लेकिन, जहाँ निश्छल प्राणों की आरती जलती है, पावन श्रद्धा की पुष्प-सुगन्धि उठती है, समष्टि की करुणा का आचमन होता है वहाँ सत्य अपने सौम्य सात्त्विक रूप में स्वयं खिल उठता है। प्रकृति में जो कुछ जितना अनायास होता है वहाँ सत्य उतना ही सहज और अनावृत्त होता है। अतः, वाणी द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति प्रायः मानसिक दुर्बलता का दस्तावेज बनकर रह जाती है। सत्य अव्यक्त नहीं है, अकथनीय है। सब कुछ सामने है, लेकिन कुछ कहने के प्रयास में परोक्ष हो जाता है। यही कारण है कि सत्य की समीक्षा कठिन होती है।

सौन्दर्य के प्रति आकर्षण सत्य है, लेकिन विद्रूप के प्रति विकर्षण भी सत्य है और सत्य यह भी है कि आकर्षण में पीड़ा होती है जबकि विकर्षण में प्रसन्नता निहित रहती है। यह सब आगे-पीछे, अगल-बगल या ऊपर-नीचे कहने की बातें हैं। सत्य के आयाम में ऐसे विभाजन स्वयं निरस्त हो जाते हैं। सौन्दर्य एक ललित संभावना का पटल खोलता है जो अक्सर भ्रम के आँगन में ले जाता है। वैसे, सत्य अनावंटित है, लेकिन उसे अच्छे-बुरे में बाँधना तर्क-विरुद्ध है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि कभी-कभी जो कुछ बाहर से खुरदुरा कोयला लगता है वह भीतर से एक हीरा होता है। आत्मबोध पर ठहरी कुरूपता का दर्प किसी रूपसी के गुमान से कम नहीं होता है। प्रसन्नता का अपना आलोक अवश्य है, लेकिन पीड़ा की गरिमा भी अनिवार्य है। प्रकाश सत्य है लेकिन उसमें सत्यता का अर्थ भरने वाली छाया भी व्यर्थ नहीं है। वैज्ञानिक मान्यता है कि प्रकृति की कोई विलगित संस्था पूर्ण नहीं होती, इसीलिए प्राकृत सत्य में विरोधाभास का एक बिन्दु सदैव उपस्थित रहता है। भारतीय मनीषा उसे मंगल-सेतु मानती है और इसी सेतु पर शिवत्व की प्रतिष्ठा का संकेत देती है। कहना नहीं होगा कि शिव के विग्रह का विरोधाभास अकारण नहीं है।

दार्शनिकों ने सत्य की महिमा का महाभाष्य लिख दिया है लेकिन फिर भी सही परिभाषा शब्दों की पकड़ से बाहर रह गई है। इस सन्दर्भ में *छान्दोग्य उपनिषद्* के ऋषि ने अपनी उत्तर चेतना का एक बिंब प्रस्तुत किया है जिससे सत्य की परिभाषा स्वयं प्रकट दीखती है — ''तानि ह वा सतानि त्रीण्यक्षराणि, सतीयम् इति, तद् यत्सत् तदमृतं, यति तन्मर्त्यं अयं यत् अयं तेन उभेन्यच्छति, यद् तेनोभेयच्छति तस्माद्यमे हरहर्वा एवं वित्स्वर्गलोकमेत'' (*छा० उप०* 8,3,5)। यही सत्य का सारांश है। अर्थ स्पष्ट है — ''सत्य ब्रह्म का वाचक है। ब्रह्म को सतीय कहा जाता है। सत्य में तीन अक्षर हैं — स, त और य। 'स' शाश्वत है, 'त' विनाशी है और 'य' दोनों का नियमन करने वाला है।'' अतः, जो नश्वर है वह भी सत्य है और जो सनातन है वह भी सत्य है। सुकृति भी सत्य है, विकृति भी सत्य है। देवत्व का विस्तार भी सत्य है, दानवी संहार भी सत्य है। और, इन विलोमधर्मी परिस्थितियों के

बीच मंगल सम्बन्ध के नियामक शिवत्व का सेतु सर्वोपरि सत्य है। इस सेतु पर खड़ा होने वाला व्यक्ति जीवन की सारी विधाओं से सौन्दर्य की संवेदना ग्रहण करता है और साथ ही जीवन के पार की सत्यता का भी मधुपान करता है। उसे आपात संकट में भी साधु भविष्य की संभावना दिखाई देती है, पतझड़ में भी वासन्ती किसलय के मर्मर स्वर की आहट सुनाई देती है और कीच-कर्दम से भी नील कमल के प्रस्फुटन का पूर्वाभास मिल जाता है। ऐसा पुण्य-श्लोक पुरुष काल में कालातीत का कलरव और व्यक्त में अव्यक्त का अनहद नाद सुनता है। यह सबकुछ धारण करने वाला सेतु है, परस्पर विरोधी परिस्थितियों का मध्यान्तर है और ऋषियों के साक्ष्य पर कहें तो यह आत्मबोध का पुल है। इसीलिए श्रुतियाँ कहती हैं — ''एष सेतुर्विधरण:'' (*बृ० उप०* IV, iv, 22)। इस स्थल पर चेतना का विराट आयाम उभरता है, हृदय का बन्द कपाट खुलता है, मन की विशालता खिलती है और साँस-साँस में सारी सृष्टि का मदिर स्पन्दन सिहरता है। तब लगता है कहीं कुछ भी सीमित, संकीर्ण या जटिल नहीं है, कोई किसी का विरोधी नहीं है, सभी एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि अन्ततः सभी पूर्ण है। एक पूर्णता कभी दूसरी पूर्णता के विरोध में नहीं खड़ी होती, क्योंकि विरोध केवल खंडित यथार्थ में ही संभव है। पूर्णता का बोध जिस किसी सीमा में हो सबकी परिणति आनन्द में होती है। इसीलिए, सीमा में जब संपूर्णता अंकुरित होती है तब सबकुछ मंगलमय प्रतीत होता है और रूप-कुरूप, पावन-अपावन, अभ्र-अभद्र, सलिल-कलिल, शैल-शैवाल सब कुछ मनुप्रिया का पाहुन बन जाता है। अनुभूतियों के अन्तराल में जब भी शिवत्व का इन्द्रधनुष उगता है, लगता है जैसे पृथ्वी को पानी मिल गया है, पानी को पवन का गत्वर विस्तार मिल गया है, पवन को सुखद आभा का आलिंगन मिल गया है, कोमल प्रकाश को आकाश की अगाध नीलिमा मिल गई है, अन्तरिक्ष को प्राणों का स्पन्दन मिल गया है और प्राणों में सोम रस की आत्यन्तिक संतृप्ति और सहज आनन्द की एकान्त प्रतीति ही शिवत्व का सत्फल है। वस्तुतः, जहाँ उकठे काठ जैसी शुष्क व्यर्थता भी हरित पादप की रसाल सार्थकता में परिणत हो जाय वहीं शिवत्व का मादक किंजल्क

बिखर जाता है। जहाँ शुक्ल चेतना पर सत्य के बिंब उभरते हैं, हृदय-सरोवर में समदर्शिता के शतदल खिलते हैं, मानस में एकल ब्रह्म के रमणीय चरणों की छवि अंकित होती है और अनायास आनन्द की अजस्त्र फुहार झरती है वहाँ शिव का आभास स्वयं मुखरित होता है।

जब प्राण शिवत्व के सौरभ से बोझिल हो उठते हैं तब सारी सृष्टि में सौन्दर्य का माधुर्य भर जाता है, समस्त दिगन्त आनन्द से पूर्ण दिखाई देता है और ऊसर में भी श्वेत-पीताभ अंकुर की सुगबुगी सुनाई पड़ती है। सौन्दर्य पार्थिव दिव्यता है, ज्योतिर्मय सत्य की घृतयोनि है, अशेष आनन्द का गर्भकोष है और शिवत्व के मंगल-सोपान पर चढ़कर मनुष्य अनन्त सत्य की महिमा का मूक साक्षी बन जाता है। इस पुल पर खड़ा होने से सारी सृष्टि में सौम्य सन्तुलन की अन्तर्धारा के दर्शन होते हैं। शिशिर की तारों भरी विभावरी मोहक है, लेकिन लू की लपटों से धू-धू करती जेठ की दुपहरी भी उत्तेजक है। वसन्त की मदान्ध वेला में कोयल का वनान्त संगीत मधुर है, लेकिन वर्षा की रिमझिम और गंभीर घन-गर्जन के बीच ताल मिलाती दादुर धुनि भी उतनी ही सुहावनी है। पद्मगंध सरोवर की चंचल वीचियों का नर्त्तन मादक है, लेकिन जलती रेती की मृगतृष्णा का भी एक करुण आकर्षण है। यौवन की मदान्ध वेला में रूपसी युवती का दैहिक स्फुटन मदिर और मर्मस्पर्शी है, लेकिन किसी जरा-जीर्ण वृद्धा की कुंचित त्वचा से अनायास चू पड़ने वाली गरिमा भी कम उदात्त नहीं है। दक्षिण समीर की सिहरन से कलियों का अवगुंठन खुलना रसमय है, लेकिन कठोर काँटे पर भोर के तुषार की काँपती सतरंगी कनी भी कम सुन्दर नहीं है। शिव के अशेष आशीष की वर्षा, उनके विरल सान्निध्य की अनुभूति और उनकी वरद मुद्रा का मंगलबोध सृष्टि के प्राण-मंडल को निरन्तर समृद्ध करता है। शिवत्व की आधारशिला पर खड़ा होकर प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है, सब कुछ कितना दिव्य है, कितना शुभंकर है, कितना सुन्दर है — सत्यं शिवम् सुन्दरम्!



गंगा : चिन्मय आलोक की नदी

गंगा असीम की स्वर लहरी है, अनन्त की प्रतिध्वनि है, महाकाल का संगीत है। जब चेतना में अव्यक्त की बाँसुरी गूँजने लगती है, तब प्राणों के संपूर्ण आकाश में ब्राह्मी-चन्द्रिका की उजास भर उठती है। इसी काव्यगंधा ज्योत्सना को गंगा की संज्ञा दी जाती है। अन्वय की दृष्टि से गंगा वही होगी जो आकाश (गं) में गमन (गा) करती है। वस्तुत:, गंगा एक आकाशीय यथार्थ है। देवभूमि के वक्ष से अंतरिक्ष की विराट परिमा तक व्याप्त गंगा अनंत का पारभौतिक चिदाभास है, विशाल व्योम की रसाल थिरकन है, 'स:' की रस-तरंगिणी है।

चेतना विज्ञान की भाषा में गंगा परासत्ता की पयस्विनी, स्वर्गंगा या देवधुनि है। वह आकाशीय तत्त्वों को अनुप्राणित और पल्लवित करती है। अत:, 'स्व' के आन्तरिक आलोक की सरस्वती है, देवताओं की सरिता है और अन्तर्निहित अर्थों में, दिव्यता की नदी है। द्यौ की विशाल सीमा में जितना कुछ सौम्य और सात्त्विक है, वही दिव्य है। गंगा दैविक उल्लास और आलोक के कलरव की माधवी हिलोर है। चेतना जहाँ शब्दों और विचारों के पार चली जाती है, वहीं देवलोक के स्वर सुनाई पढ़ने लगते हैं। इन्हीं स्वरों के कोमल विस्फोट को देवधुनि की संज्ञा दी जाती है। चित्त की बोधपूर्ण और विचारशून्य अवस्था में परामानवीय संवेदना या देव-सत्ता से संवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब, फूलों की हँसी, चिड़ियों की चहक, तारों की झिलमिल चमक और सुरीली भोर की लाली सब में एक अस्फुट भाषा का अर्थ उभरने लगता है। संक्षेप में, कहा जाय तो गंगा दिव्यता की भाषा का काव्य है।

ऋषि-कल्पना के अनुसार गंगा चेतना के भूगोल की नदी है। वह तीन धाराओं, तीन पथों और तीन लोकों में संचरण करती है। इसीलिए, उसका एक नाम त्रिपथगा भी है। वह समष्टि की सूक्ष्म शिराओं की इरावती है। एक

गंगा धरती पर बहती है, दूसरी प्राणों में दिव्यता की पुलक बनकर बिखर जाती है और तीसरी आकाश-गंगा के रूप में शीतल उजास का अर्थ वहन करती है। प्राणों में प्रवाहित होने वाली अन्तर्लोक की गंगा को ही पाताल-गंगा भी कहते हैं। प्राणों के भीतर गंगा इड़ा की उठान है, धरती पर जीवन-सलिल की अजस्र धारा है। वह अनादि पुरुष के सात्त्विक उल्लास से नि:सृत होती है और चेतना के 'ऊर्ध्व-समुद्र' में विलीन हो जाती है। गंगा को लोग भारत के उत्तरी पर्वत हिमालय की साधारण नदी न मान लें, इसीलिए कवि कालिदास ने कैलास की एक अलग परिभाषा ही दे दी — 'राशीभूत: प्रतिदिनमिव त्र्यंबकस्याट्टहासं'। अर्थात्, संपूर्ण मंगलमयता और समाधि-चेतना के प्रतीक शंकर के घनीभूत हास्य का नाम हिमालय है। अत:, गंगा शिव की अवदात हँसी का तरल प्रवाह है।

गंगा का गोमुख से निकलना भूगोल का नहीं प्रज्ञा का विषय है। 'गो' और 'मुख' दोनों भारतीय मनीषा के अनुसार, पृथक् या संयुक्त दोनों स्थितियों में, विश्व-सत्ता के अत्यन्त अर्थ-गर्भित प्रतीक हैं। गो की अर्थ-गरिमा सत्ता के सभी धरातलों का स्पर्श करती है। स्थूल दृष्टि से, जीवन की एक उपयोगी वस्तु के रूप में वह गाय है। पदार्थ विज्ञान के आधारभूत तत्त्व और जीवन के मूल स्पुरण के संदर्भ में वह प्रकाश और मन है। ब्रह्म-सत्ता की चिन्मय दीप्ति की अन्तर्भूमि में वह चेतना है। वैसे, गो शब्द की ध्वनि में भले कुछ न हो इसके अर्थ में सब कुछ है। पृथ्वी, जल, आकाश सभी गो हैं। जल ही एक ऐसा तत्त्व है जो पृथ्वी और आकाश दोनों को अपनी आर्द्र उदारता से समन्वित और संयुक्त रखता है। धरती और अंतरिक्ष के बीच संबन्ध स्थापित करके प्राण-वायु को जीवन के तरल बिन्दुओं से भर देना जल का ही कार्य है। हालाँकि, पृथ्वी और आकाश को हवा भी जोड़ती है, लेकिन हवा उन्हें केवल एक बाँझ गठबन्धन में कस देती है, उन्हें किसी प्रजावती प्रेरणा से पुलकित दाम्पत्य का रूप नहीं दे पाती। हवा जब जल-बिन्दु को अपने गर्भ में धारण करके प्रकाश की सिहरन से काँप उठती है तब जीव-रचना की आरंम्भिक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। गो जीवन के कलरव का पहला संकेत है। *ऋग्वेद* में जीवन की इस मूल प्रेरणा के प्रथम

उन्मेष को 'उषा' कहा गया है। उषा का एक नाम 'गोवती' भी है। पानी और प्रकाश के चेतना-संयुत अणुओं की आकाशीय अभिव्यक्ति ही गंगा है। उषा सत्य की रानी है, गंगा सत्य की नदी है, रानी नदी में स्नान करती है, अर्थात्, ज्योति-सलिल में नहाकर निखर जाती है। जहाँ सत्य की आलोक-सत्ता भी अवगाहन करके पवित्र और पुलकित हो उठे वही गंगा है।

मुख दो सीमाओं के बीच की आकाशीय सुरंग है जो अपने आप में खुलेपन का प्रतीक है। जिस सीमा में चेतना का द्वार खुल जाता है या जहाँ अनन्त सत्ता सीमा में प्रवेश करती है वही 'गोमुख' है। जहाँ सीमा असीम का स्पर्श करती है, जहाँ ज्योति सलिल में समाहित हो जाती है, जहाँ मौन, मगन पृथ्वी गगन को चूम लेती है और जहाँ पर्वत-पाषाण से पवित्र प्राण की तरंगे फूट निकलती हैं, उस स्थल को गोमुख से अच्छी संज्ञा नहीं दी जा सकती। वैसे, मुख से कोई चीज़ भीतर भी जा सकती है और बाहर भी आ सकती है। जो चीज़ भीतर जाती है वह अपनी सूक्ष्मतर अवस्था में आंतरिक अवयवों की जीवनी शक्ति में परिणत हो जाती है और जो चीज़ सहज रूप में स्वभावत: बाहर निकलती है वह आकाश की प्राणिक सत्ता में विलीन हो जाती है। गोमुख से निकलने वाली गंगा के बारे में भी यही बात लागू होती है। एक ओर वह आकाश को ब्रह्म से मिलाती है और दूसरी ओर वह ज्योति और पवन के सोपान से उतरती हुई धरती पर जीवन का पर्याय बन कर सर्पिल गति से अछोर सागर की ओर चल पड़ती है और गंगा-लहरी की सिहरन समुद्र की उत्ताल तरंगों के रूप में आकाश को छूने लगती है। गंगा पवित्र केवल इसलिए नहीं है कि वह जिस शरीर का स्पर्श करती है उसमें दिव्यत्व की गरिमा भर जाती है, बल्कि इसलिए भी कि उसमें प्रवेश करने वाले नदी-नाले, कीट-पतंग, जीव-शव सभी शिव स्वरूप हो जाते हैं। यहाँ तक कि उसकी धारा में सरकती हुई अनगढ़ शिलाएँ भी श्रद्धा अर्जित करके शालिग्राम बन जाती हैं।

गंगा अपने त्रिविध रूप में दैहिक, दैविक, भौतिक; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; मन, बंद्धि, अहंकार और सत्य, शिव, सुन्दर आदि सभी धरातलों पर प्रवाहित होती है। योग की शब्दावली में जिसे तुरीयावस्था करते हैं, गंगा उसी

का पर्याय है। वह चेतना की चौथी अवस्था है जो जागरण, निद्रा और स्वप्न तीनों में सहज रूप से व्याप्त रहती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया की सारी विधाओं में गंगा निवास करती है। मन के भीतर एक आकाश है, परमाणुओं के भीतर आकाश है और आकाश के भीतर भी, सबसे अलग लेकिन सबसे व्याप्त, एक निरपेक्ष या परा-आकाश है। इस परमव्योम के सारे स्थूल स्तरों को कल-कल ध्वनि से गुंजित करने वाले साम-संगीत के आदि स्वर का प्रतीक गंगा है। वह चाहे धरती पर बहे, मन, प्राण में प्रवाहित हो या आकाश में तरंगित हो — प्रत्येक स्थिति में तीन पथों पर बँट कर चलती है। वस्तुतः, विश्व-सत्ता की सारी क्रियायें तीन अवस्थाओं और तीन गुणों के ताल-मेल पर निर्भर रहती हैं।

सत्व, रज, तम; उत्पत्ति, स्थिति, संहार; पुरुष, नारी, किंपुरुष; इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान; धन, ऋण, उदासीन; आदि अनेक त्रियोग प्रकृति की सम्पूर्ण भंगिमा व्यक्त करते हैं। गंगा सत्ता के तीनों धरातलों को परिष्कृत और प्रकाशित करती है। विराट विश्व की आन्तरिक नियमन-शक्ति को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में अभिहित किया जाता है। गंगा विष्णु के नख से निकलती है, बंह्मा के कमण्डल में भर जाती है और शंकर की जटा में ठहरती है। विष्णु की नख-ज्योति से ही संपूर्ण ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि आलोकित है। पृथ्वी के गर्भ में पड़ी मणियाँ और आसमान के असंख्य तारागण इसी नख-प्रकाश से प्रतिबिम्बित है। गंगा के विष्णुपदी होने का अर्थ ही है कि वह प्रकृति के प्रत्येक अणु-जीवाणु में व्याप्त है। पुरुष सूक्त में विराट के पद से समस्त जीव-लोक की उत्पत्ति और पुनः उसी पद में उसके समाहित होने की बात कही गयी है — ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि''। पृथ्वी अंतरिक्ष और द्यौ उसी पुरुष के पद हैं। अतः, भूमि, अन्तभूर्मि एवं आकाश सब में गंगा की तरंगें उठती रहती हैं। गंगा विष्णु के निरपेक्ष पद, अक्षर-व्योम, से निःसृत होकर उसके तीन सापेक्ष पदों में संचरण करती है। अर्थात्, त्रिपथगा हो जाती है।

जहाँ असीम सत्ता अस्तित्व की सीमा में आकार ग्रहण करती है वही स्थल ब्रह्म-कमण्डल के रूप में व्यक्त किया जाता है। वैसे, गंगा असीम

सत्ता की सरिता है, लेकिन जब वह सीमा के व्यक्त विस्तार में बहती है तब उसे अपनी मर्यादा में बँध कर चलना पड़ता है। कभी वह अपूर्व शान्ति के मूर्तरूप शान्तनु की पत्नी बनकर बँध जाती है, कभी समाधिस्थ शंकर की सिरचढ़ी सहचरी बनकर ठहर जाती है और कभी तपस्वी भगीरथ की पुकार पर सहमी-सिहरी वन-पर्वतों में लुकती-छिपती अबाध-अगाध सागर की ओर चल पड़ती है।

जिन्होंने कर्ण प्रयाग, रुद्र प्रयाग और देव प्रयाग जैसे पर्वतीय स्थलों में मंदाकिनी, भागीरथी और जाह्नवी का एक-दूसरे से मिलना देखा है उन्हें गंगा के त्रिपथगा होने का एक भौगोलिक अर्थ समझ में आ सकता है। लेकिन, देवधुनि का तीन धाराओं में बहना भूगोल का नहीं प्रज्ञा का विषय है। वस्तुतः, गंगा विषय नहीं है, तत्त्व है — ''विशुद्धं यत्तत्त्वं सुरतटिनि तत्त्वं न विषयः''। गोस्वामी तुलसीदास ने तो विस्मय ही उजागर कर दिया है — ''धन्वी काम नदी पुनि गंगा?'' मानसिक धरातल पर तत्त्व-बोध के लिए प्रतीक अनिवार्य हो जाता है। शान्त चेतना में शब्द विचारों के नहीं बिम्बों के अर्थवाह होते हैं। जब बिम्ब शुद्ध चेतना के धरातल से बुद्धि की सतह पर उतर आते हैं, तब शब्द विचारों के पर्याय बन जाते हैं। भारतीय ऋषियों ने विचारों को नहीं बिम्बों को शब्द में बाँधने की कोशिश की है। इसीलिए, उनकी भाषा छाया-सी पहचान से परे लगती है।

आर्ष-कल्पना में सृष्टि प्रक्रिया सदा तीन स्वरों में विभक्त की गई है। आधुनिक विज्ञान ने भी इस विभाजन को स्वीकार किया है। प्रकृति के मूल-तत्त्वों की योजना, कणों की गुणात्मक सत्ता और विद्युत-कणों के आवेश की विधायें सभी तीन पंथों में संचरण करती हैं। जल जीवन का पर्याय है, अतः समस्त जीवन-धारा को प्रतीकात्मक रूप से गंगा-प्रवाह कहा जाता है —

गङ्गा प्रवाहोऽस्ति जल-प्रवाहो, जलं तदस्ति त्रिपथानुगामी।
अधः पृथिव्यामिह तिर्यगूर्ध्वं वायौ च तस्मात् त्रिपथा हि गंगा॥

'ओऽम् भूर्भूवः स्वः' मन्त्र के तीन प्रतीकात्मक शब्दों में जीवन और जगत् की सारी विधायें समाहित हैं। ऋषियों ने विश्व के तीन विभागों पृथ्वी,

अंतरिक्ष (मध्य स्थान) और द्यौ की बड़ी ही बोधपूर्ण व्याख्या की है। सामान्य लोक तो बौद्धिक परिमा के भीतर आ जाता है, लेकिन बुद्धि की सीमा से पार भी एक विस्तृत लोक है जिसका अपना विशाल द्यौ, 'बृहत् द्यौ' है। इसे कहीं-कहीं 'महोअर्ण:', अर्थात्, महिमा-सम्पन्न 'सलिल' कहा गया है। गंगा इसी बृहत् द्यौ या मह:लोक की नदी है। इसीलिए, इसे देवधुनि या स्वर्ग की सरिता कहा जाता है। चेतना की भाव-भूमि पर वह तुरीयावस्था की मधुमती चन्द्रिका है। सूक्ष्म संदर्भ में, गंगा मात्राओं की तटिनी नहीं तन्मात्राओं की तरंगिणी है।

विष्णु को विश्व-व्यापिनी सत्ता का अधिष्ठान कहा जाता है। असीम सत्ता जब सीमित समष्टि में व्यक्त होती है, तब वह गति के तीन चरणों में विभक्त हो जाती है। इन्हीं चरणों में सारे लोक का विस्तार नाप लिया जाता है। विष्णु के इन तीन पदों की चर्चा *ऋग्वेद* में भी की गयी है — 'विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय:'। अर्थात्, उसकी विशाल गति ने तीन पदों में सारी विश्व-सृष्टि को आवृत कर लिया। विष्णु की पद-गरिमा में विपुल मधुरता की प्रेरणा निवास करती है — "विष्णो: पदे परमे मध्व उत्स:"। दिव्य पूर्णता, अक्षय माधुर्य और भद्र आनन्द के चिन्मय चरणों के समन्वित संचरण की ऋतम्भरा पीयूष-धारा ही गंगा के रूप में नि:सृत होती है। इसीलिए, गंगा विष्णु के परम-पद का अनाविल वीचि-विलास है जो स्वाधृत आनंद की उच्छल मद-विह्वल लहरों में परम सत्ता का मोहक छन्द बनकर फूट पड़ती है — "यस्य त्रिपूर्णा मधुना पदानि, अक्षीयमाना स्वधया मन्दति"। असीम सत्ता के अध:प्रान्त में चेतना आनन्द और विज्ञान की त्रिवेणी तरल-अविरल रूप में प्रवाहित होती हुई मानवीय तत्त्व की तीनों कोशिकाओं मन, प्राण और शरीर में भास्वर स्निग्धता का संचार करती है।

विष्णु के नख से निकलने वाली गंगा विराट पुरुष की अनावृत, अधोवर्ती दीप्ति और सर्वत्र विकीर्ण नक्षत्र-ज्योति का प्रतीक है। वह भुवन-व्यापिनी आलोक की नदी है जो पृथ्वी, अंतरिक्ष और पाताल के त्रिविध लोक में तरंगित है। जब कभी रहस्यवादी ऋषियों की चेतना संवेदनात्मक सत्ता के मधुरस की मिठास से भर उठती थी वे अपनी शब्दातीत अनुभूति को मिथक

और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने की भरपूर कोशिश करते थे। गंगा इसी प्रयास की प्रांजल व्यंजना है। स्थूल रूप में गंगा हिमालय की दुहिता है, लेकिन गहरे अर्थों में वह चेतना के ऊर्ध्व-शिखर की सरिता है।

गंगा विराट पुरुष की शब्द-रचना है जो प्रकृति के प्राण-तत्त्व की पवित्र पयस्विनी बन जाती है। सत्ता की अगाध गहराई से नि:सृत आन्तरिक आवेश के शब्द जब आनन्द की मांगलिक ऊर्जा से स्फुटनशील हो उठते हैं तब उन्हें मंत्र की संज्ञा दी जाती है। वेदों में ब्रह्म मंत्र का वाची है। संपूर्ण सृजन की अभिव्यंजना चेतना पर निरन्तर अंकित होती रहती है। विषय लोक की सारी वस्तुएँ जब स्वयं मानसिक विस्तार में आलोकित होने लगती है तब अतिचेतन अवस्था का बोध उत्पन्न होता है। और, जब चेतना वस्तुओं को तमस्-गुहा में छिपाये रहती है तब वह अवचेतन की ओर इंगित करती है। चेतना पर अपनी विशाल महिमा की छाप छोड़ने के लिए परम सत्ता अवचेतन के धूम-धूसर अंधकार के गहन गर्भ से सूक्ष्म, रश्मिल, स्पन्दन के रूप में उभरती है। सामान्यत:, अतिचेतन का लोक नित्य और स्वत: आलोकित होता है, लेकिन वह मानवीय बुद्धि से परे होता है। बुद्धि अवचेतन के मंथन से विचारों का नवनीत ग्रहण करती है। यह प्रक्रिया जिस चैतन्य शक्ति से सम्पन्न होती है उस क्रियात्मक विधा को 'शब्द' कहा जाता है। विभिन्न लोकस्तरों को मानवीय चेतना पर अंकित करना शब्द का कार्य है। ब्रह्म या ब्रह्मणस्पति इसी शब्द-सत्ता का अधिपति है जिसके कमण्डल की एक बूँद पृथ्वी पर गंगा के रूप में वह निकलती है। वैदिक कल्पना के अनुसार गंगा परम व्योम का बिन्दु-पात है।

अनभिव्यक्त सत्ता के व्यक्त आयाम की संपूर्णता ही ब्रह्म-कमण्डल है जिसमें 'अप्रकेत सलिल' चेतना की क्रियाशील सत्ता का घटक या 'सुप्रकेत' हो जाता है। वैदिक ऋषियों की अन्तर्दृष्टि के अनुसार सृष्टि से पूर्व अचेतन सत्ता का अपार अनन्त सागर था, अन्धकार में अन्तर्निहित अंधकार था, अव्यक्त की विशालता में व्याप्त अरूप की राका थी। इस निस्तब्ध, प्रशान्त अस्तित्व को 'अप्रकेत सलिल' या 'अचेतन का सिन्धु' कहा गया है। जो 'कुछ भी' होने से पहले 'सब कुछ' था। एक निबिड़ तमस् की सरलता में

अनिश्चित, आकारहीन विरलता से विराट पूर्णता की पुकार उठती है, सत्ता बोध के धरातल पर टूटती है और शब्दों में ध्वनित होती है। बृहस्पति या ब्रह्म इन्हीं शब्दों द्वारा सृष्टि करता है। अखिल संपूर्णता के तीन स्तरों पर स्थित होकर ब्रह्म ने शब्दों पर सारा आकाश थाम लिया। ऋषि वामदेव के शब्दों में — "बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण"। तब, अनिश्चित ने निश्चित आकार लेना आरम्भ किया, अन्धकार में ज्योति का कंपन उभरा, निशा में उषा का उन्मेष हुआ, आनन्द का उन्मद कलरव बिखरने लगा और चेतना की मधुर हिलोर पदार्थ के पुलिन से टकराने लगी। वैदिक शब्दावली में 'अप्रकेत' से 'सुप्रकेत' का उल्लास फूट पड़ा, अर्थात्, मन:सत्ता में सत्य-बोध का संकेत अंकित होने लगा और अचेतन में चेतन की सिहरन भर गई। यही ब्रह्म-कमण्डल का स्वरूप है जिसे ऋषियों ने 'धुनेतय: सुप्रकेतं मदन्त:' कहा है। गंगा इसी सुप्रकेत या सत्य-चेतना की नदी या मदिर आनन्द की मधुर ध्वनि है। इसीलिए, गंगा देव-धुनि या दिव्य आलोक एवं पुलक की पुष्करिणी है।

सृजनात्मक सत्ता की सारी सम्भावनाओं की एकस्थ ऊर्जा का नाम ब्रह्मा है। असल में, ब्रह्म उस विभूति का अर्थ वहन करता है जिससे गहन अव्यक्त के गर्भ में पदार्थ सत्ता के बीजांकुर प्राणशीलता ग्रहण करते हैं। इसी विभूति के कारण पराचेतन की अनादि-अनन्त सम्भूति सीमा में संगोलित होकर स्निग्ध-स्वर्णिम आभा का विराट वृत्त बन जाती है। ब्रह्म के इस प्रतिरूप को हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। ब्रह्म-कमण्डल इसी सृजन की सत्ता का आधान-स्थल है। इस कमण्डल की एक बूँद भी अखिल ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण परिधि में व्याप्त हो सकती है। गंगा ही एक ऐसी नदी है जिसकी छवि छाया-पथ में भी देखी जा सकती है जहाँ वह आकाश में असंख्य ताराओं को बुद्-बुद् की तरह अपने फेनिल प्रवाह में समेटे चलती है। वस्तुत:, दिव्य चेतना की अबाध गति को गंगा से अच्छी संज्ञा नहीं दी जा सकती।

लेकिन, ब्रह्म-कमण्डल की यह बूँद पृथ्वी पर अपने-आप नहीं चू जाती। अवनी-तल पर गंगा की अवतारणा के लिए भगीरथ को भीषण तप करना पड़ता है। व्यक्ति-चेतना पर अतिचेतन के दबाव को ही 'तप' कहा

जाता है। इस दबाव से प्रकृति सत्ता का जो रस निचुड़कर सारस्वत स्रोतस्विनी का रूप ग्रहण कर लेता है, वही गंगा है। तप से चेतना परिपक्व होती है। जब सारे मानस-तंतु साधना की अग्नि में तपकर लाल हो जाते हैं तब मन के घटाकाश में अतिचेतन का सुधा बिन्दु ठहर जाता है। तपहीन या अतप्त व्यक्ति के मन-शरीर से पराचेतना का सलिल रिसकर बाहर आ जाता है। इसीलिए, वेदों में कहा गया है — ''न तदामतनुमश्नुते''। अर्थात्, कच्चे तंतु वाले लोग उसे नहीं पा सकते। बिना निवेदन के तो ढेर सारी नदियाँ निकली हैं, लेकिन अलौकिक तपस्या से द्रवित होकर ब्रह्म-लोक से भूतल पर अवतरित होने वाली एक ही नदी है जिसे हम गंगा कहते हैं। गंगा विश्व-सत्ता में चेतना की गति का उन्मद छन्द है। जहाँ कहीं तप से पवित्र प्राणों में मदिर स्पंदन उभरता है वहीं आनन्द की थिरकन बनकर गंगा फूट पड़ती है।

भगीरथ शब्द से 'भगं ईरयति' की ध्वनि उतपन्न होती है। वस्तुतः, भगीरथ कोई व्यक्तिवाची संज्ञा नहीं है, भाव की दृष्टि से तत्त्व-बोधक क्रिया-विशेषण है। सूर्य की किरणों के प्रकीर्णन या प्रातिभ स्फुरण की प्रेरणा को 'भग' कहा जाता है और 'ईरण' किसी अस्तित्व को उकसा देने की क्रिया है। भगीरथ नाम से ज्योति या ताप के आवाहन करने वाले का बोध होता है। सूर्य या ज्योति की उपासना से जल या जीवन की अवतारण भगीरथ की तपस्या का मूल रहस्य है। सगर के पुत्र संदेह और अज्ञान से व्याप्त रहे, उन्हें ध्यान और बोध में लीन ऋषि का मज़ाक ही सूझता रहा। भगीरथ का तप इसी अज्ञान और अँधेरे को दूर कर देने का एक प्रतीकात्मक स्वरूप है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गंगा सूर्य की आन्तरिक शक्ति है जो तमस् की प्राचीर चीर कर फूट निकलती है। आकाश में गमन करने वाली सरिता का सूर्य से संबन्ध स्वाभाविक है। वैसे भी, धरती की गंगा जब पर्वतीय घाटियों से फेनिल फूत्कार लिए बहती है तब सचमुच लगता है कि उसकी उत्ताल तरंगों की तुमुल ध्वनि से ज्योति की फुहार बिखर रही हो। यह पृथ्वी का भाग्य है कि उसकी प्राण-शक्ति को उत्प्रेरित करने के लिए एक आकाशीय तत्त्व तरल रूप में प्रवाहित हो उठता है। सही अर्थों में, वैदिक भाषा में, गंगा ज्योति की कूलंकषा या 'आपो दिव्याः' है।

विराट पुरुष का वाष्पिल उछ्वास ज्योति-सिक्त प्रवाह के रूप में धरती की प्राण-सत्ता का स्पर्श होते ही गंगा की गरिमा का वाहक बन जाता है। भगीरथ एक ऐसे आधार की सृष्टि करते हैं जिस पर गंगा जैसी रोशनी की नदी बह सके। सृष्टि करने में जो आनन्द उमड़ता है, उस आनन्द का स्रोत ही भग है। जो इस भग या भगिन् को प्रेरित या प्रकाशित करे वही भगीरथ है। रथ की मूल धातु 'ऋ' है जिसका अर्थ गति, संचार या दीप्ति होता है। स्थूल अर्थ को छोड़ दें तो भगीरथ (भगिन् + रथ) का आशय है — प्रकाश की गति या आनन्द का संचार। भगीरथ का रथ जिधर जाता है उधर ही गंगा का रास्ता बन जाता है। वस्तुतः, प्रकाश को अंधकार में चलने के लिए कोई सड़क नहीं बनानी पड़ती। रोशनी जिधर चलती है, अंधेरा उधर हो राह छोड़ देता है। ऐसे ही, आनन्द की कोई पूर्वापर दिशा नहीं होती। वह कहीं भी किसी भी रूप में फूट सकता है — पर्वत में पयस्विनी बनकर, पादप-पुष्पों में पराग बनकर और प्राणियों की चेतना में प्रेम बनकर। भगीरथ इसी ओजस्वी आनन्द की सूक्ष्म स्फूर्ति के प्रारूप है जिनके पीछे गंगा सात्त्विक आनन्द के साधु-पथ पर चल पड़ती है।

सगर के पुत्रों ने सागर खोद दिया था और सब कुछ जीत लेने के भ्रम में भस्म हो गए थे। कामनाएँ जब भी विशाल तृष्णा का आकार लेती हैं तब उन्हें एक छोटा-सा सन्देह राख कर देता है। जब तक अहंकार है तब तक सन्देह से छूटना असंभव है। अहंकार का बीज जब श्रद्धा की भूमि में विलीन हो जाता है तब विश्वास का अंकुर उगता है। सगर के पुत्र अहंकार से उत्पन्न असंख्य कामनाओं के प्रतिनिधि हैं। सागर धरती की सारी जल-धाराओं का आगार है जिसके गर्भ में अग्नि की आत्मा निवास करती है, अर्थात्, वह जल और अनल की तात्त्विक संयुति का विस्तार है। वस्तुतः, सागर अमित, अशेष प्यास का उपसंहार है। सगर के पुत्रों का भस्म होना प्रकारान्तर से एक सूखे समुद्र की चुनौती है जिसे गंगा आगे बढ़कर स्वीकार करती है। पृथ्वी के गर्त्त-कोटर को सागर भर सकता है, वायुमंडल के आवर्त-विवर को आकाश भर सकता है, लेकिन पदार्थ-चेतना और सागर-आकाश सब के निचाट खालीपन को केवल 'उदिताम्बरमार्गा' गंगा ही भर सकती है। सागर

अस्तित्व के निबिड़ तमस् का नेपथ्य है और गंगा सर्जनात्मक चेतना के ज्योति-संगीत की तरह कुछ ऐसे गुञ्जरित हो उठती है जैसे यवनिका के पीछे किसी नृत्यांगना के नूपुर झंकृत हो उठे हों। भगीरथ इसी ब्रह्म-नाद का आवाहन करते हैं। जब विराट की बाँसुरी बजती है तब शंकर का ध्यान टूट जाता है और वे गंगा को अपनी जटाओं में रोक लेते हैं। शंकर श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं। भगीरथ की गंगा तप:पूत विश्वास की देन है। इसीलिए, उसके हर घाट पर आनन्द की ज्योति छलकती है।

शंकर की जटा द्यौ की लेखा है, ऊर्ध्व आकाश की चन्द्रिका है। गंगा द्युलोक की रसवंती फुहार है। वह सरस है, समरस है, गोरस है। गोरस अव्यय रस है। वह केवल सत्ता का सारांश ही नहीं, चेतना की विभूति और आनन्द की पूर्णता भी है। गंगा आकाश की क्षीर-सरिता है, गगन का गोरस है। 'रसो वै स:' को एक शब्द में 'गोरस' कहा जा सकता है। पुद्गल-परमाणु, सूक्ष्म-विराट, खंड-अखंड, सीमित-अमित सबमें जो सरल रूप में सहजता से व्याप्त हो जाय वही 'रस' है और उसके साथ चेतना और आनन्द की पुलक समाहित हो जाय तो वह गोरस है। इसी रस को कृष्ण गोपियों से माँगते थे और वे हँस कर टाल जाती थीं — "गोरस माँगत फिरत हो, गोरस माँगत नाहिं"। शिव इस रस को ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में अपने मस्तक में धारण करते हैं। इसी ऋतम्भरा प्रज्ञा के छलकाव को गंगा की संज्ञा दी जाती है। द्युलोक की लेखा, अर्थात्, शिव की जटाओं के जंगल में गंगा के उतरने का अर्थ है विश्व की सारी ओषधियों की रोमिल विस्तीर्णता एवं प्रकृति की समस्त जीवन-कोशिकाओं में अमृत और देव-तत्त्व की थिरकन भर जाना। गंगा प्रकृति के प्राणिक स्पन्दन की पहली उठान है।

शैल-शिलाओं से उत्पल-प्रवाल तक, पवन के प्रतनु उछ्वास से सान्द्र तुषार की बर्फीली उजास तक, कानन-कुन्तल भूमि के हरित विस्तार से मुक्त-मेघ नीलांबर के विपुल प्रसार तक, वन-वृक्षों के मर्मर से प्राणि-पक्षियों के कूजन स्वर तक सारी प्रकृति में शिव की दिगम्बर छवि निरन्तर छलकती रहती है। शिव की जटा एक जंगल है जिसमें गंगा पुलकित पवित्र भाव से तटवर्ती तरु-वीरुध की जड़ों का सिंचन करती है। तब, ओषधियों

से वसन्त की प्राणमयी धारा समीर-सौरभ के झकोरों में फूट निकलती है। लेकिन, यह वह जंगल नहीं है जिसे मुसहर काट ले जाते हैं या जिसके लिए 'चिपको आन्दोलन' चलाया जाता है। यहाँ जंगल का मतलब 'वन' से है जिसकी चर्चा *ऋग्वेद* में भी की गयी है। यह वह वन है जिसके बारे में वैदिक मनीषा प्रश्न करती है — "किं स्विद वनं क उ स वृक्षः आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः"। वह कौन-सा जंगल है, वह वृक्ष कौन-सा है जिससे पृथ्वी और द्युलोक की उत्पत्ति होती है? बात कुछ उल्टी-सी लगती है। पृथ्वी से वृक्ष उत्पन्न होते हैं, पौधों से धरती नहीं उपजती। लेकिन, जब सामान्य बुद्धि शीर्षासन करे तो बात सीधी लगने लगेगी। वस्तुतः, जहाँ व्यावहारिक बुद्धि हाँफ कर बैठ जाती है वहीं से वैदिक ऋषियों का चिन्तन आरम्भ होता है। यह वन संपूर्ण प्रकृति की प्राण-संवेदना के अव्यक्त स्रोत का प्रतिरूप है। विराट सत्ता की रोमिल वनराजि ही प्रकृति है। व्यक्ति सत्ता की विभक्त चेतना वृक्ष है। जो वन्दनीय है, नमस्य है वही वन है। जो वृद्धि और क्षय के आवर्त में पड़ा है वह वृक्ष है। *केन उपनिषद्* में ब्रह्म को 'वन' कहा गया है और *तैत्तरीय उपनिषद्* में संसार को वृक्ष के अर्थ में लिया गया है। इसी वृक्ष पर सारे जीव चढ़ते-उतरते रहते हैं। त्रिशंकु ऋषि का कथन है — "अहं वृक्षस्य रेरिवा" — मैं इस वृक्ष पर बार-बार चढ़ता हूँ। चढ़ने में ही उतरने का भाव भी निहित रहता है।

पुरुष वन है, प्रकृति वृक्ष है और सारे प्राणी एक ही वृक्ष के पात-पल्लव हैं। ब्रह्म के कमण्डल से निकल कर गंगा शिव की जटा में भटकती है इसका एक अर्थ यह भी है कि आत्मा शुद्ध चेतना से निकल कर माया के हाव-हिलोर में खो जाती है। ब्रह्म से ही द्यौ और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन्हीं दोनों के बीच प्राण की सम्भावना अंकुरित होती है और समस्त जगत् में जीवन की झंकृति सुनाई देने लगती है। गंगा के शिव की जटाओं में उतरने का भाव यह है कि प्राणिक विभव से भरपूर ब्राह्मी चेतना प्रकृति में प्रवेश कर रही है। गंगा शिव की प्रिया है जिसे वे सिर पर धारण करते हैं, पार्वती उनकी पत्नी हैं, उन्हें अंक में समेटते हैं। वैसे, गंगा और पार्वती दोनों में अमृत-भगिनीत्व है, लेकिन, गंगा शंकर की सिरचढ़ी है, अतः पार्वती उसे

सौत मान कर कुढ़ी रहती हैं। कहने का आशय यह है कि गंगा चंचलता और मर्यादा दोनों में पार्वती से बड़ी है। इसका कारण यह है कि पार्वती दक्ष या तर्क की पुत्री है और गंगा अबाध दाक्षिण्य की दुहित्री है।

गंगा तुरीयावस्था की तलस्पर्शी व्यञ्जना है, उन्मुग्ध-चेतना की दुग्ध-धवल धारा है, शिव-चेतना की छन्दस्वती हिलोर है। शंकर की जटा विराट समष्टि की जटिल व्यापकता का बोधक है। अंतरिक्ष के तमस् अन्तराल में तडित् प्रकाश का द्रवीभूत रूप बनकर गंगा आकाश में फूट निकलती है, जिसे आकाश-गंगा या दुग्ध-पथ (मिल्की वे) कहते हैं। जटा या शिखा ब्रह्म-रन्ध्र को ढँके रहती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बाल विद्युत् शक्ति के अवरोधक हैं। शंकर की जटा ब्रह्म और जीव के बीच प्रकृति की प्राचीर बन जाती है, इसीलिए प्रकृति की विस्तीर्ण प्रकीर्णता में जीवन के संचार की प्रक्रिया को गंगा-अवतरण के रूप में चित्रित किया जाता है। गंगा उस प्राकृतिक अवरोध का भेदन करती है और ब्रह्म एवं जीव के बीच एक पारदर्शी सेतु का कार्य करती है। ब्रह्म की स्वराट चेतना प्रकृति से छनकर गंगा में पवित्र होकर प्राणों में प्रवेश करती है। गंगा के शिव की जटा में ठहरने का यही अर्थ है।

शंकर के मस्तक पर जटाओं के पार्श्वभाग में बाल-चन्द्र की चाप-आकृति सृष्टि-रचना की बीज-कौमुदी है। वक्रता विकास की जननी है। प्रकृति या ब्रह्माण्ड में वक्रता का लोप हो जाय तो सृष्टि का क्रम ही रुक जाय। कुछ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि दिक्-काल (स्पेस-टाइम) की वक्रता के कारण ही सूक्ष्म न्यूक्लीय कणों की उत्पत्ति होती है। वक्रता विकास की परिचायिका इसलिये भी होती है कि उसमें वृत्त बनने की संभावना निहित रहती है। वृत्त पूर्णता और सौंदर्य का प्रतीक है। वृत्त किसी वक्र रेखा की अन्तिम शान्ति है और सरल रेखा के हठीले तनाव का देहान्त है। शिव की जटायें अपने मूल अर्थ में अवचेतन के जटिल विस्तार का संकेत देती है। ज्योत्स्ना उस धवल ज्योति का बोध कराती है जिसमें जीवन-तत्त्व की मिठास भरी रहती है। यह वैदिक ऋषियों के 'असतो सदजायत' को एक चित्र-रूप में अंकित करता है। अंधकार में जब स्निग्ध प्रकाश के

बीज-कण बिखरते हैं तो आदि-प्रकृति में प्राण की सुगबुगी शुरू हो जाती है। वैसे भी, शशि-कला सोम-तत्त्व की मूर्त व्यञ्जना है। अग्नि और सोम के संयोग से ही सारे विश्व का प्रादुर्भाव होता है — ''अग्निषोमात्मकं जगत्''। इसीलिये, शिव की जटिल केश-राशि संपूर्ण प्रकृति की प्राणिक ऊर्जा का विकीर्ण तंतु-जाल व्यक्त करती है।

काली जटाओं का अंधकार असद् है। हिमांशु की उज्ज्वल चन्द्रिका सोम-सिक्त प्रकाश से पूर्ण है, अत: 'सद्' है। अंधकार असद् है, क्योंकि उसकी कोई निजी सत्ता नहीं होती, केवल प्रकाश के अभाव से उसका पेट भरा रहता है, प्रकाश की उपस्थिति में तिमिर तिरोहित हो जाता है। सद् का अभाव ही असद् का भाव बन जाता है, इसीलिये, असद् का केवल आभास होता है, अस्तित्व नहीं होता। जिसके अभाव में भी भाव बन जाने की क्षमता हो उसे सद् होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रश्न उठता है कि सद् का अभाव कैसे हो सकता है? कृष्ण ने तो *गीता* में कहा है — ''नाभावो विद्यते सत:'' — सद् का कभी अभाव नहीं होता। फिर भी, हमारे दृष्टि-सापेक्ष जगत् में सद् पदार्थ का अभाव देखने में आता है। हमारी समझ की सबसे बड़ी भूल इसी स्थल पर होती है। असल में, सामान्यत: भौतिक अर्थ में जिन वस्तुओं को हम सद् की श्रेणाी में रखते हैं वे सब असद् हैं। वस्तुत:, सद् असद् के भीतर अव्यक्त रूप में व्याप्त रहता है और साथ ही उसके पार भी होता है। *गीता* में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, पुरुष-गंधर्व आदि को सद् नहीं माना गया है। इन सबके भीतर जो अव्यक्त सत्ता है, उसे सद् की संज्ञा दी गयी है। मिथ्या दृष्टि से सामान्य लोक के सारे पदार्थ सद् हैं, लेकिन आर्ष दृष्टि से सारी नश्वर वस्तुएँ असद् हैं। फिर भी, जब समझाने की बात आती है तब जिसे सामान्य व्यक्ति सद् मानता है, ऋषि भी उसे ही सद् मानकर कोई बात कहता है, ऐसी स्थिति में, सद् को असद् और असद् को सद् कहना पड़ता है। इसीलिये — ''देवानां पूर्व्येयुगे असतो सद् अजायत'' कहा गया है।

सद् और असद् का द्वन्द्व जीव-सृष्टि से भी पुराना है। इसी द्वन्द्व के बीच में, विश्रांति-बिन्दु पर गंगा उतरती है। ऋषियों की मान्यता है कि सद् और असद् के बीच एक निर्मेघ व्योम है, शंकर की जटा इसी व्योम की सत्ता का

संकेत देती है। इसीलिए, शिव का एक नाम व्योमकेश भी है। इसी व्योम में गंगा अपने पथ की खोज में भटकती है और सद् का सारा अंश लेकर असद् के जटापुंज में भँवरी काटने लगती है। प्रतीकों के संदर्भ में, सोम-तत्त्व या प्राणशीलता की धारा ही गंगा के रूप में प्रकृति की गहन जटाल सीमा में प्रवेश करती है। गंगा शंकर के समाधि की सलिल-सुधा है, जिसमें अमृत स्नान करने से न केवल दैहिक त्वचा वीचि-संस्पर्श से विभोर हो उठती है, बल्कि चेतना भी चिन्मय की ज्योत्स्ना में रजनीगंधा के सौरभ की तरह छक कर नहा लेती है।

ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुसार गंगा की धारा और जगत् के प्रवाह में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः, विश्व की विभिन्न रूप-रचनाओं में जो सारस्वत एवं सर्वनिष्ठ सत्ता निवास करती है, उसी 'एक' की गति-चेतना को गंगा कहा जाता है — "जगत्प्रवाहे बहुरूपभिन्ने यदेकरूपं भवतीह गंगा"। बल की क्षणिकता के कारण, लहरों की विलक्षणता एवं प्रतिक्षण क्षीणता ही सृष्टि के विविध रूपों में विभक्त हो जाती है। पदार्थ जगत् की प्रत्येक वस्तु में गंगा की सूक्ष्म तरंगें व्याप्त रहती हैं। शुद्ध चेतना के स्तर से उतर कर गंगा शिव की केश-राशि में रुकती है और तब प्राणों की अविच्छिन्न सरस्वती प्रकृति में प्रवेश करती है। ऐसी स्थिति में, गंगा केवल ब्रह्म-बिन्दु नहीं रह जाती, वह परा-सत्ता का प्रतिबिन्दु बन जाती है। अर्थात्, गंगा अम्बर की स्निग्ध ज्योति का बिम्ब ही नहीं, स्वयं अपनी पावन छवि का प्रतिबिम्ब भी है।



गंगा : विराट संस्कृति की नदी-गाथा

भारत अमृत-साधना की धरती है। यहाँ अतीत और भविष्य दोनों निरन्तर साथ जुड़े रहते हैं। केवल सत्ता का अनुपात बदल जाता है, सत्य की समीक्षा भिन्न हो जाती है, यथार्थ का दृष्टिकोण बदल जाता है और भाव की सघनता रूपान्तरित हो जाती है। कुल मिलाकर, काल नहीं बदलता केवल कला बदल जाती है। वस्तुतः, भूत और भविष्य के मिलन-बिन्दु पर ही वर्तमान की अवधारणा उत्पन्न होती है। इसीलिए, इस देवभूमि पर सब कुछ शाश्वत के आलिंगन में बँधा रहता है और मृत्यु नाम की कोई चीज़ नहीं होती है। जो अतीत को मृत मानते हैं, उनसे पूछा जा सकता है — ''मर्त्य अतीत से जाग्रत् वर्तमान और जीवन्त भविष्य की संभावना कैसे जन्म लेती है?'' काल की अनन्त धारा में न कुछ जीवित रहता है और न मरता है। प्रकृति में सर्वत्र एक अनादि नैरन्तर्य की प्रच्छन्न सरस्वती है, परिवर्तन की एक शाश्वत विधा है जिसमें सृष्टि की सारी रचनाएँ डूबती-उतराती हैं, लहरों-सी उठती है, बुलबुले-सी फूटती है, और फेन-सी फैल जाती है। कोई चीज़ न कहीं से आती है, न कहीं जाती है, लेकिन ऊपर सतह पर मोहक छवियों का रूपान्तरण होता है, सूक्ष्म अणुओं का पुनरावर्तन होता है और प्राणों का प्रतिक्षण नवीकरण भी होता रहता है। परम्परा का यही मूल स्वरूप है। भारतीय संस्कृति इतिहास को व्यर्थ और शाश्वत परम्परा को सत्य मानती है। गंगा इसी परम्परा की कथा कहती है।

आर्य संस्कृति परम व्योम-सी उदार है। इस अमरत्व की धरती पर सबको सब कुछ अपना-सा लगता है। आकाश है, पंछी हैं। स्वाती के बादल हैं, चातक की प्यास है। आनन्द के कलरव से भरे जंगल हैं, पर्वतों की गगनचुंबी चोटियाँ हैं, सदानीरा नदियाँ हैं और, साथ ही, बसन्त की बयार है। भोरहरी किरणों का जादू है, नन्हीं-नन्हीं लहरों पर चाँदनी की थिरकन है। लेकिन, सबके ऊपर गंगा का पानी है जिससे जीवन तो पावन होता ही है,

मृत्यु भी मंगलमयी हो जाती है। पानी ही सबकुछ है — प्राण है, जीवन है, पदार्थ है और परमार्थ भी है। और, गंगा का पानी तो माँ के दूध से भी पवित्र और प्राणदायी होता है। इस पानी की विधा प्रकाश से भी विरल है। यह एक ऐसी चाँदनी है जिसमें चन्दन की सुगंधि भरी होती है। गंगा सोम की सरस्वती है। सोम भारतीय संस्कृति की अमृत-साधना का सारांश है। सोम की मदिर संवेदना परम व्योम का औदार्य है। गंगा गगन-लोक के सात्त्विक सुगंधि की अजस्र धारा है जो समष्टि के हृदय में आनन्द-ब्रह्म के प्रति ऊर्ध्वारोहण की प्रेरणा उत्पन्न करती है। इसकी लहरों में जैविक उल्लास का ऐसा आवेग उठता है कि धरती धन्य हो जाती है।

भारतीय तत्त्व-दर्शन का पुरातन सन्दर्भ बड़ा रोचक है। *ऋग्वेद* की एक ऋचा कहती है कि जल या सलिल ही सबकुछ है — "सलिलं सर्व मा इदम्"। जल की व्युत्पत्ति संकेत देती है कि जन्म से लय तक जो कुछ भी है उसे 'जल' समझना चाहिए। 'तज्जलान् इति' के भीतर यही भाव है। सलिल का अर्थाभास कुछ भिन्न है। इसका अर्थ है तरल आवेश या मधुर ताप की सौम्य उत्तेजना से पूर्ण जल। सारे विश्व के गर्भ-कुहर में जल की उत्तेजना व्याप्त रहती है। गहराई से देखने पर लगता है कि गंगा इसी सूक्ष्म और सर्वव्यापी उत्तेजना की नदी है। गंगा केवल भौतिक जल की नदी नहीं है, क्योंकि उसके प्रत्येक जल-कण में प्राणिक उल्लास के बीज निहित हैं। जहाँ कहीं मन का उत्साह है, आनन्द का अनुगुंजन है, प्राण-तत्त्व की सात्त्विक उठान है वहीं गंगा है। वस्तुत:, जल की उत्तेजना सारी सृष्टि में हिलोर मारती है।

यही कारण है कि पूर्वज ऋषियों ने वरुण को अपना आदि आराध्य माना था। इस मान्यता में पानी, रस या सोम-तत्त्व को प्रधानता देने की बात थी। चेतना में जब कभी ज्ञान का कोई बिम्ब उभरता है तब उसे किसी प्रतीक की रचना में बाँधना जरूरी होता है अन्यथा, उस बिम्ब के बिखर जाने की संभावना बनी रहती है। इसीलिए, सारी सृष्टि की सलिल-सत्ता को महासमुद्र, अनन्त सागर या ऊर्ध्व-सिन्धु के रूप में स्वीकार किया गया। इस रूपक-विधा के अंतर्गत सागर के अधिपति को वरुण की उपाधि मिली। विशेष अर्थ में, पृथ्वी-तल पर वरुण सागर-सम्राट या पानी का स्वामी था।

वरुण पानी का पति है और पानी उसकी प्रिया है। लेकिन, संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से पानी शब्द में स्त्रीत्व का भाव नहीं आ पाता। प्रश्न केवल एक नयी संज्ञा का था। अत:, पानी में जितनी छवियों की प्रीति-छाया का संचरण संभव है उन्हें एक विरल नारी-तत्त्व में समाहित कर दिया गया और उसे 'अप्सरा' कहा गया। गंगा एक ऐसी ही दिव्य अप्सरा या 'आपो दिव्या' है। वह गौरी है, गंभीरा है और कुल मिलाकर वरुण की पत्नी है। एक युग था जब गंगा का नाम वरुणा था। बाद में वरुणा एक गौण नदी के रूप में प्रचलित हो गई और गंगा एक अलग ही अर्थ-माधुर्य लिए भारतीय संस्कृति की चैतन्य धारा का प्रतीक बन गई।

गांभीर्य समुद्र का सौन्दर्य है। उसके आकर्षण का अपना ही आयाम है। कोमल उत्तेजना के वृत्त हैं। पानी और पवन के रंग-तरंग के फेनिल आवर्त हैं। नन्हीं-मुन्नी, गोरी, छरहरी लहरों की ठुमकन है। चाँदी की झिलमिल आभा जैसी मछलियाँ हैं। मोतियों की दीप-शिखा में चमकते शैवाल के जंगल हैं। सागर के भीतर एक अगम बाजार है। लाल मूँगों के पहाड़ हैं, मोतियों की आभा से भरे अन्तराल हैं। और, लगता है समुद्र की अगाध गहराई में भी रंगीन दुनिया के सारे सपनों का यथार्थ उग आया है। सागर के भीतर एक बड़ी ही मोहक और मायावी लोक है। इस सलिल लोक की सारी मायिक छवियों से गंगा 'अप्सरित' होती है। धरती या आकाश में जहाँ कहीं जल के किसी मूल स्रोत की संभावना होती है वहीं एक गंगा की कल्पना रूप लेती है और जहाँ जलधारा अगाध और शान्त होती है वहाँ मगर का रहना अधिक स्वाभाविक है। अत:, यह अकारण नहीं है कि गंगा का वाहन मकर है। गंगा सभी नदियों की समूहवाचक संज्ञा है। वह समुद्र की अंत:सलिला है, पानी के भीतर पानी की गति है। वरुण जल की संभावनाओं को साकार करता है, 'पानीय' का नियमन करता है। इसीलिए, गंगा को वरुण की वनिता माल लिया गया। तब वरुण सारी सृष्टि का देवता था।

कालान्तर में वैदिक चिन्तन की धारा अचानक एक सूक्ष्मतर आयाम की ओर मुड़ गई। कहा जाता है कि इस आपात परिवर्तन से जल-तत्त्व में भीषण विप्लव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और इसी स्थिति को लोग

समुद्र-मंथन के रूप में चित्रित करते हैं। तब निम्न-समुद्र के ऊपर ऊर्ध्व-समुद्र की विभावना उभरी। जल की पुरानी संधारणा धूमिल पड़ गई। इसी बदलाव के क्रम में जल की नूतन सत्ता के स्वामित्व के लिए वरुण के बदले विष्णु के नारायण स्वरूप की कल्पना की गई और समुद्र-कन्या गंगा गौरी नहीं, बल्कि ललिता या लक्ष्मी हो गई। धीरे-धीरे मानस-बिंबों के पुरातन प्रतीक बिखरते गए। वैदिक तत्त्व-मीमांसा के इस आन्दोलन काल में प्रतीकों का एक सुघर, सात्त्विक रूपान्तरण हुआ। भारतीय दर्शन की इस धारा में वरुण का स्थान विष्णु ने ले लिया और 'गौरी' गंगा 'लक्ष्मी' हो गई। फिर, लक्ष्मी और विष्णु शाश्वत गठबंधन में बँध गए। इस बीच जितनी अप्सराएँ उत्पन्न हुई थी, सभी विलासी इन्द्र को मिल गईं। वरुण की परिकल्पना धीरे-धीरे क्षीण होती गई और इन्द्र आर्य-संस्कृति का सबसे प्रतापी देवता बन गया।

सांस्कृतिक विकास के क्रियाशील काल में कुछ ऐसी जातियों के संक्रमण हुए जो प्रकृति के सौम्य नहीं, बल्कि रौद्र रूप के उपासक थे। उनका देवता रुद्र था। इसी बीच समन्वय का ऐसा सुयोग हुआ कि रुद्र और विष्णु दोनों देवता समान रूप से पूज्य माने जाने लगे। एक ही गौरी थी जो लक्ष्मी के रूप में विष्णु को मिल गई। रुद्र अकेले निःसंग रह गए। ऐसी स्थिति में, सन्तुलन खोने की आशंका थी, अतः, प्रकृति से रुद्र के लिए एक और गौरी की प्रार्थना की गई। गौरी की उत्पत्ति हुई, लेकिन इस बार वे पानी की कन्या नहीं, पर्वत की पुत्री बनकर आईं। इसीलिए, उन्हें पार्वती या रुद्राणी कहा गया। रुद्र और विष्णु का सन्तुलन तो सध गया, लेकिन एक विडंबना भी खड़ी हो गई। जो गंगा वरुण की पत्नी थी वह विष्णु की पदचारिणी बन गई और एक दूसरी आई तो रुद्र की प्रेयसी बन गई। वरुण का गौरव गिर गया, क्योंकि उसकी पत्नी विष्णु की अंकशायिनी और फिर रुद्र की अर्द्धांगिनी होकर उसे अकिंचन छोड़ गई।

वरुण की मर्यादा का प्रश्न भारतीय तत्त्व-दर्शन का बड़ा मार्मिक बिन्दु है। जल की महत्ता अग्नि को मिल जाना कोई साधारण घटना नहीं है। सोम तत्त्व की सत्ता को इन्द्र के हाथों में सौंप देना रत्ती भर भी निरापद नहीं है।

इन्द्र इन्ध् का ही परवर्ती रूप है जिसका अर्थ होता है जलाना या भस्मसात् कर देना। देवता के रूप में इन्द्र अग्नि का स्वामी है। यहीं से जल पीछे छूट गया और सामने केवल आग की लपट रह गई। लेकिन, ऐसे तात्त्विक संक्रमण के क्षणों में भारतीय मनीषा ने समन्वय की अद्‌भुत कला का परिचय दिया है। द्रष्टा ऋषियों ने इस घटना को पानी के प्रकाश में रूपान्तरण की कथा का रूप दे दिया। भारतीय दर्शन की वैदिक पृष्ठभूमि में इस परिवर्तन से एक हलचल-सी उठ गई। *ऋग्वेद* के अग्नि-सूक्तों में इस संधारणा के स्वर सुने जा सकते हैं। वैसे, तत्त्व-दर्शन की सारी समीक्षा अग्नि-प्रधान हो गई, फिर भी आर्य-चेतना करने वाली विधातृ-शक्ति को प्रतीक मान लिया। प्रत्येक अतर्क्य सत्य का एक बिम्ब होता है। इस बिम्ब के रूप में अपस् की सार्वभौम महत्ता स्वीकार कर ली गई और अग्नि को जल के पुत्र (अपां नयात्) की संज्ञा दी गई।

आर्य-दर्शन की मान्यता है कि पानी से ही आग पैदा होती है। जल से अग्नि की उत्पत्ति के पहले जल की कला (अवस्था) का रूपान्तरण होता है जिसे 'सलिल' की संज्ञा दी जाती है। वस्तुत:, सलिल का अर्थ है — ऊर्जस्वी, आवेशपूर्ण या उत्तेजित जल। अग्नि जल की इसी उत्तेजना का संघनित रूप है। इस दार्शनिक विकास की प्रक्रिया में सबसे बड़ी बात यह है कि ऋषियों ने वरुण का तिरस्कार नहीं किया, बल्कि उसे चेतना की आदिम प्रतिष्ठा प्रदान की। वैसे, ग्रीक साहित्य में भी तत्त्व-दर्शन की मान्यतायें कितनी बार बदली है। थेल्स के अनुसार पानी मूल तत्त्व है। जेनोफेनीज की मान्यता है कि पृथ्वी सृष्टि का आधार है, एनाग्जिमेनीज का कहना है कि हवा ही सब कुछ है और हेराक्लिटस का कथन है कि अग्नि से ही सबकुछ उत्पन्न होता है। लेकिन उनके दर्शन में समन्वय का स्वर नहीं है। जब वे जल के बदले अग्नि को मूलतत्त्व की गरिमा प्रदान करते हैं तब जल को बिल्कुल भूल जाते हैं। ग्रीक दर्शन का दैन्य तब और कारुणिक लगता है जब उसमें आकाश-तत्त्व को नगण्य मान लिया जाता है।

भारतीय संस्कृति की दार्शनिक अवधारणा के वरुण की पराजय गंभीर अवसाद का विषय है। ऋषि वशिष्ठ तो जैसे इस पीड़ा से भीतर तब

आहत हो जाते हैं। वे वरुण को एक सर्वव्यापी देवता की प्रतिष्ठा देने का संकल्प लेते हैं और उसे सत्य का मित्र घोषित करते हैं। वरुण की संस्तुति में वे ऐसे दिव्य प्रतीकों की समा बाँध देते हैं कि दाँतों तले ऊँगली दबानी पड़ती है। उनकी दृष्टि में वरुण मधुमय सत्य का पवित्र प्राण है, अनन्त का पुत्र है, धरती और आकाश में प्रवाहित सारी नदियों के विह्वल आवेग का जनक है और यह वरुण ही है जिसके कारण सृष्टि की समस्त जलीय तरंगे द्युलोक से स्वर्ग की ओर ऊपर उठती हैं। पानी का ऊपर उठना, उसका अपने पार जाना या स्वयं अपनी सीमित सत्ता के अतिक्रमण करने का अर्थ है उसका प्रकाश में रूपान्तरित हो जाना। यही वरुण का सत्य है जो सारी नदियों का अंतिम गंतव्य है। उन्हीं के शब्दों में — ''ऋत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति''। वशिष्ठ एक ब्राह्मण ऋषि है। वस्तुत:, जो अपनी सीमाओं के पार जाने में सक्षम है, वही ब्राह्मण है। इस ब्रह्मर्षि ने बड़े भावुक स्वर में पुकार कर कहा था — ''हे वरुण देव, यह तो अपने ही संकोच में पड़े रहने का परिणाम है कि अपनों के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। संकल्प की दीनता के वश हमारे आचरण में विकृति आ गई और हम अपने दिव्य जीवन के विरोध में खड़े हो गए। कैसी विडंबना है कि हम पानी में खड़े हैं और प्यास से कंठ सूख रहे हैं — ''अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविज्जरितारं'।''

वैदिक दर्शन में वरुण की गरिमा का प्रत्यावर्तन होता है। वरुण को पुन: सारी सत्ता का साम्राज्य मिल जाता है। इस प्रक्रिया में कवि शुन:शेप मंत्रद्रष्टा वशिष्ठ का खुलकर साथ देते हैं। एक ओर वरुण अन्धकार का आलिंगन करता है और दूसरी ओर उषा की सौम्य ज्योति को अपनी विराट बाँहों में भर लेता है। वह असीम रातों के भीतर विश्राम करता है और दिन के प्रकाश में क्रीड़ा भी करता है। वह अनन्त प्रकाश में सूर्य के घोड़ों को खोल देता है और समुद्र में बन्द नदियों की यात्रा का मार्ग भी प्रशस्त करता है। वरुण द्युलोक की दिव्य धाराओं का स्वामी बन जाता है और इन धाराओं को धरती पर लाने का कार्य इन्द्र को सौंप देता है। ऐसी स्थिति में, इन्द्र-सत्ता का स्वामी नहीं, बल्कि मात्र एक कार्यवाहक मंत्री बन जाता है। जल की धारा और

प्रकाश के प्रवाह का इतना बेजोड़ सन्तुलन, ऋतु और सत्य का इतना उदात्त संयोग और ऊर्जा एवं पवित्रता का इतना दुर्लभ विधान भारतीय दर्शन की अपनी विशेषता है। ज्योतिर्मय आकाश से अमृत की वर्षा होती है जो तमस् की चट्टानों को तोड़कर सात धाराओं के रूप में समष्टि में फैल जाती है। इन सप्तमार्गी धाराओं का एक विराट दर्शन है। ऋषियों की मान्यता है कि ये चेतना की सूक्ष्म नदियाँ हैं जो पंछियों की उड़ान में, पवन की विपुलता में और प्राणों की पवित्र गति में निरन्तर अभिव्यक्ति होती हैं। वरुण इन सात बहनों के बीच पावन स्नेह से भरे भाई की तरह हरदम खड़ा रहता है — ''सप्तस्वसा स मध्यमो नमन्तामन्यके समे''।

वेदों में वरुण की दिव्य अवधारणा है। वह सीमित मन का शत्रु है, अक्षम प्राण का आखेटक है, भौतिक संकीर्णता और मोह का मारक है। वह सत्य का साक्षी है, सहस्राक्ष है। वह भूत का रचयिता है, सर्वज्ञ है। वह शाश्वत दिव्यता का देव-तत्त्व है। वह मनीषी है, प्रभविष्णु है, क्रान्तदर्शी प्रज्ञा का प्रतीक-पुरुष है। जीवन के सारे पाप सीमित और अपवित्र मन की उपज है। विश्व की समस्त दुष्कृतियाँ अज्ञान की संतति हैं। जागतिक अंतर्संबन्धों की सारी जटिलता अविद्या का परिणाम है। इसीलिए, वरुण की कल्पना एक ऐसे सर्वव्यापी देवता के रूप में की गई है जिसकी अंत:प्रेरणा से संपूर्ण सृष्टि में ऐसे विचारों का उदय होता है जो कभी सत्य से स्खलित नहीं होते। वरुण हमारे सभी किए और अनकिए कर्मों का द्रष्टा है। वह हमारे हृदय में ऐसे शब्दों का संस्कार भरता है जो हमें प्रज्ञा के उच्चतर शिखर पर पहुँचा देता है और मन में ऐसे विचारों का उद्रेक करता है जिससे नूतन ज्ञान के अंकुर फूटते हैं। स्वयं ऋषि के शब्दों में — ''अतो विश्वान्यद्‌भुता चिकित्वां अभिपश्यति। कृतानि या च कर्त्वा।''

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में वरुण निष्प्राण जल का अधिपति नहीं, सृष्टि की प्राणमयी चेतना का सम्राट है। पुरातन मनीषियों ने गंगा को वरुण का ही पर्याय माना है। लेकिन, इस संदर्भ में स्मरणीय है कि गंगा वरुण के सत्य को अधिक खुले रूप में व्यक्त करती है। वह पानी के प्रकाश में रूपान्तरण की मोहक कथा कहती है। वस्तुत:, गंगा इतने अमित औदार्य की नदी है कि

उसके दर्शन से ही स्नान का पुण्य मिल जाता है। सारी नदियों के पानी का स्पर्श शीतल होता है, लेकिन गंगा की आभा भी अंतर में शांति भर देती है। उसके मधुमय आलोक की धारा में केवल पिपासु कंठ की तृषा ही नहीं मिटती, मन भी जुड़ा जाता है और जीव की सीमित चेतना आनन्द के ऊर्ध्व-सागर में निमग्न हो जाती है। गंगा अंतर्लोक की नदी है, ऊर्ध्व प्राण का प्रवाह है और अनन्त सुख की सरिता है। वह व्यष्टि मन को समष्टि की सत्ता से एकाकार करती है। मन का अपने पार चले जाना, बृहत्तर आनन्द के लिए (बृहती रणाय) अपने सुख को सबमें बाँट देना, स्वयं मिट कर सब कुछ पा लेना और सबका अपना हो जाना यही भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। इसीलिए, गंगा एक विराट संस्कृति की नदी-गाथा है।

वैदिक मनीषा पदार्थ के परिग्रह की सभ्यता को नहीं लोकोत्तर आनन्द की संस्कृति को सर्वोपरि मानती है। वह जिन्दगी के बाजारू शोरगुल को नहीं, आत्मा के उत्तान संगीत को महत्त्व देती है और सुविधाओं की बेलगाम होड़ को नहीं अगाध आनन्द की आध्यात्मिक पकड़ को श्रेयस्कर मानती है। वैदिक संस्कृति की मूलबद्ध अवधारणा है कि सृष्टि के कण-कण में सोम रस की स्निग्ध पयस्विनी का वास रहता है, प्राणों के पोर-पोर में अनादि सिन्धु का स्वर उठता है और प्रत्येक बिन्दु में विराट अम्बर की संभावना निवास करती है। पौराणिक सन्दर्भ में, वामन के विराट में रूपान्तरण की नदी-गाथा का नाम गंगा है। ऋषि-संस्कार वाले व्यक्ति के तन में, मन में, प्राण में, सारे रोम-कूपों में गंगा का पानी 'झकमक' करता है। व्यक्ति के हृदय में जब वरुण देवता के प्रति श्रद्धा का भाव उमड़ता है तब अपने प्राणों की गंगा से परिचय प्राप्त होता है और मन को इस श्रद्धा की नदी में नहाने का सुख मिल जाता है। फिर तो सागर, पोखर और पयोद सबका पानी फीका पड़ जाता है। गंगा की तरंगों में आकाश की पायल रुनझुन बजती है, इसके तट पर सन्ध्या की आरती उतरती है और इसके तटवर्ती वृक्षों पर उपनिषदों के सुपर्ण पंछी अनन्त की कथा कहते हैं। सच कहा जाय तो सब कुछ शेष हो जाय लेकिन गंगा की संज्ञा बची रहे तो भारतीय संस्कृति का इतिहास फिर से लिखा जा सकता है।

गंगा ब्रह्म-कमंडल से शंकर की जटा में उतरती है उनके सिर पर सवार होती है, लेकिन कभी पार्वती की तरह उनकी अर्द्धांगिनी नहीं बनती। इसीलिए, गंगा जितनी पवित्र नदी की कल्पना कठिन है। गंगा गौरी की बड़ी बहन है, सागर की दुलारी कन्या है, वरुण की वनिता है और ज्योति की अप्सरा भी है। वह विष्णु का पाँव धोती है, ब्रह्मा का कमंडल भर देती है और शिव के जटा-कटाह में भँवर काटती रहती है। पार्थिव गंगा में भी धरती की सारी नदियों की श्रद्धा का सत्त्व है। पानी की पवित्रता का एक तात्त्विक रहस्य है और वह यह कि जल जितना ही सूक्ष्म होता है उतना ही पवित्र होता है और जैसे ही सूक्ष्मता की एक सीमा पार करता है, वैसे ही प्रकाश का रूप ग्रहण कर लेता है। मनुष्य से कीट पर्यन्त सारे प्राणियों और अणु से पहाड़ तक सभी पदार्थों की रूपात्मक विधा पानी और प्रकाश की ही नित्यक्रीड़ा है। गंगा छूने-पाने में पानी जैसी, पीने में अमृत जैसी और देखने में रूपहली आभा जैसी लगती है। भाव की दृष्टि से गंगा अत्रि के एकान्त की अनुसूया है, शिव की 'रघुवंश' वाली पार्वती है, राम की अशोक-वन वाली सीता है और दुष्यन्त मन के लिए कण्व के आश्रम की शकुन्तला है।

गंगा की मर्यादा को मन से झटक कर कोई प्रगतिशील नहीं बन सकता। ऐसे पातकी को पूर्वजों की अस्थियाँ श्राप देने लगती हैं — "जाओ, तुम किसी को कुछ नहीं समझते, तुम्हें भी कोई कुछ नहीं समझेगा।" व्यक्ति को अपने ही अहंकार से चोट लगती है, पीड़ा होती है और बार-बार पश्चात्ताप होता है। आत्म-धिक्कार का जीवन सबसे बड़ा पाप है। अपनी दृष्टि में गिर जाना कितना दुःख देता है इसे किसी श्रद्धाहीन व्यक्ति को देखकर समझा जा सकता है। गंगा जानती है, माटी की भोली मूरते हैं, अबोध बच्चे हैं, इनकी छोटी-छोटी गलतियों को भूल जाना भी कितना सहज है! वह कितनी करुणामयी है! हाथ उठाकर कहती है — "तुम अपनी माँ को कभी याद तो करो, हजारों मील दूर से ही पुकार कर तो देखो, मैं कैसे दौड़ी-दौड़ी आती हूँ और तुम्हारे सारे दैन्य धो डालती हूँ।" गंगा सचमुच माँ है और मानें तो माँ से बड़ी है। हिन्दू मन कहता है कि किसी की अपनी माँ रहे न रहे, केवल गंगा बहती रहे तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

गंगा भारतीय संस्कृति की मर्यादा और ऋषियों की उत्तर-मनीषा की मंदाकिनी है। वह सृष्टि के परम सत्त्व की जिज्ञासा की जाह्नवी है, ब्रह्मा के कमंडल की मंगल-धारा है, विराट की अंत:सलिला है। जब समष्टि के कंठ की प्यास पुकारती है तब गंगा स्वर्ग से धरती पर उतरती है, और अव्यक्त आयाम से व्यक्त की विमा में प्रवेश करती है। सूक्ष्म अंतरिक्ष से ज्ञान की लहर उठती है, भक्ति के नीरद-आवर्त्त में भूलती-भटकती है और उदात्त कर्म की बर्फीली चोटियों को चूमती हुई एक नदी बन जाती है जो माटी में उर्वर प्रेरणा का प्राण भरती हुई सागर में छिपकर सो जाती है। गंगा कर्म की कूलंकषा है, पुरुषार्थ की पयस्विनी है, अध्यात्म की देवधुनि है और मोक्ष की तरंगमालिनी भी है।

गंगा के आध्यात्मिक रहस्य की एक रोचक कथा है। राजा बलि को अपनी दानशीलता का अहंकार होता है। भगवान विष्णु उसके कल्याण की कामना से वामन विप्र के रूप में उपस्थित होते हैं। बलि का उद्धत निवेदन है — "कुछ माँग लीजिए, विप्रवर!"। विष्णु झिझकते हैं, और सोचते हैं — "याचना कितनी बड़ी नीचता है कि सर्वव्यापी विराट को बौना बना देती है।" लेकिन, स्वयं हटकर आन्तरिक सत्य को प्रकट करना आवरण का धर्म है। वामन अपने नन्हें चरणों से केवल तीन पाँव पृथ्वी माँगते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इन तीन चरणों की बड़ी महिमा है। बलि मन ही मन हँसता है कि बोने की अभिलाषा भी कितनी बौनी होती है। गर्व से कहता है — "जहाँ से मन हो, नाप लीजिए।" वामन अचानक विराट हो जाते हैं और तीन पदों में धरती, आकाश और बलि का मस्तक तीनों नाप लेते हैं। बलि का अहंकार बिला जाता है और उसकी अस्मिता को भी कहीं ठहरने की जगह नहीं मिलती है।

इसी बीच एक अदृश्य घटना घट जाती है। अन्तरिक्ष नापते समय जब विष्णु का चरण आकाश-लोक में जाता है तब ब्रह्मा उसे पहचान लेते हैं और परम सत्ता के अनुग्रह का पाँव धोकर अपने कमंडल में भर लेते हैं। ब्रह्मा का कमंडल संपूर्ण सृष्टि के कल्पनातीत विस्तार को रेखांकित करता है। गंगा इसी कृपा-कमंडल का जल है, अलौकिक आनन्द की अमित करुणा का विगलित रूप है। अनन्त सत्ता को जब कभी सीमा में बाँधने की कोशिश की

जाती है, वह बार-बार छलक जाती है। गंगा असीम संभावनाओं की सरिता है। उसके लिए ब्रह्मा का कमंडल छोटा पड़ जाता है। वह छलकना चाहती है। वस्तुत:, स्वयं की सीमा के पार जाने की अन्त:प्रवृत्ति ही गंगा है और उसे रोकने का अर्थ है — स्वयं समाप्त हो जाना। ब्रह्मा सृष्टि के विचार-साम्राज्य के स्वामी हैं। शुद्ध चेतना की तरलता ही विचार का रूप लेती है। इसीलिए, गंगा को 'ब्रह्म-सलिला' भी कहा जाता है। ब्रह्मा द्वारा विष्णु के पाँव पखारने का संकेत है — विचारों द्वारा अनन्त चेतना का चरण-स्पर्श। यही आर्य-संस्कृति का मूल मंत्र है। वैदिक ऋचाओं में, उपनिषद् के छन्दों में, पुराण के श्लोकों में और संहिता के सूत्रों में इस संस्कृति के अमृत-बिन्दु बिखरे पड़े हैं। "आपो देवीरभिष्टये" से लेकर "मैया, एक लहर हमें दइतू" तक सारी भारतीय संस्कृति गंगा-संस्कृति है।

ब्रह्मा की चिन्ता है, अब गंगा जाए कहाँ? कौन रोकेगा इस विह्वल विराट के विस्फूर्जित आवेग को? उन्हें पता है कि अनादि की कथा अनन्त ही जानता है। लेकिन, अनन्त जब तक सीमा में समाहित नहीं होता तब तक वह लोक-कल्याण के लिए उपयोगी नहीं होता। मंगल के देवता शिव का मस्तक ऐसे ही अनन्त का सान्त प्रतीक है। लोक-मंगल के लिए पागल शंकर, ब्रह्मा के आर्त्त निवेदन पर गंगा को समाधि की छन्दस्वती ऋचा बना कर अपनी जटाओं में बाँध लेते हैं, लेकिन इस गूढ़ रहस्य को कहीं व्यक्त नहीं करते — "रचि महेश निज मानस राखा।" गोस्वामी जी की अर्द्धाली गंगा और राम-कथा दोनों के लिए कही गई है। सादृश्य की दृष्टि से पार्वती के जितने प्रगाढ़ निवेदन पर शिव राम-कथा कहते हैं, भगीरथ की उतनी ही कठोर साधना के बाद गंगा को हिमाद्रि की गोद में देते हैं। वस्तुत:, बड़ी पावन उत्कंठा से भरे मानस में गंगा की अलौकिक छवि उभरती है।

गंगा की कथा ब्रह्म-विद्या की बड़ी अनूठी शैली है। गंगा प्रणव की प्रतिष्ठा सम्हालती है, प्राणों को ऊपर उछालती है, सारी प्रकृति को सहलाती है और पदार्थ में भी प्राणिक संभावना का छन्द भरती है। श्रुतियाँ कहती हैं — "प्रणव धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म लक्ष्य है।" लेकिन, एक अकेली गंगा है जो अपने विविध रूपों में इन तीनों की संयुति है। इसीलिए, इसे

बिन्दु-तत्त्व की तरंगिणी माना जाता है। गंगा धनुष है, प्रत्यंचा है, बाण है और लक्ष्य-बिन्दु भी है। यह एक ऐसी नदी है जो पानी है, प्रकाश है, प्राण है और परम व्योम भी है। सब कुछ समेटकर, गंगा प्रकाश की लहर और पानी के स्वर की सारस्वत नदी है।

भारतीय चेतना भूमा के सुख की संस्कृति को स्वीकार करती है। नीचे गिरना पानी की नियति है। ऊपर उठना प्रकाश की प्रकृति है। गंगा की लहरें दूधिया उजास की तरह ऊपर उठती हैं। जहाँ पानी की प्रकृति ज्योति का स्वभाव बन जाती है, वहाँ गंगा स्वत: प्रकट हो जाती है। जल में अग्नि की प्रतिष्ठा, आदित्य में सोम की आहुति और व्योम में स्वधा की स्वीकृति ये तीन ऐसी धारणाएँ हैं जो भारतीय संस्कृति को अद्वितीय बनाती है। शीतल पानी तो नदी-कूप में भी मिल जाता है, लेकिन गंगा जैसी श्रद्धा की वह मिठास नहीं मिलती जिससे मनुष्य के प्राणों की आदिम प्यास बुझती है। सूखे कंठ की व्यथा साधारण पानी से भी दूर हो जाती है, लेकिन गंगा की महिमा ही कुछ और है। जिनकी कस्तूरी का सुगंधि-सार मलकर वनितायें गंगा-स्नान करती हैं, वे मृग भी स्वर्ग चले जाते हैं। दिवंगत की देह पर पड़ने वाली गंगा की एक बूँद भी उसकी आत्मा को शिव-लोक तक ले जाती है। श्रद्धा भारतीय संस्कृति की प्राण-शिरा है और गंगा समष्टि के इसी पावन प्राण की नदी है।

गंगा पूर्वजों के आशीष की तरह बहती है, निष्ठुर धूप में भौंह पर ठहरे पसीने की बूँद जैसी शीतल लगती है, अगहनी धान की हरियाली पर कोमल धैवत की तरह तैरती है, भोले बच्चों की किलकारी जैसी निष्पाप लगती है और दादी माँ की वेदान्त हँसी जैसी धवल प्रतीत होती है। गंगा के पानी ने आर्य सभ्यता के पाँवों को धरती दी है। जिह्वा को अमृत का स्वाद दिया है, कंठ को तृप्ति का विश्वास दिया है, हृदय को सात्त्विक उत्तेजना की आग दी है, मन को आत्मबोध की परिभाषा दी है और चेतना को शिवत्व का संस्कार दिया है। सचमुच, गंगा सांस्कृतिक औदार्य की नदी है।

संक्षेप में, गंगा ने संपूर्ण जंबूद्वीप को बृहत्तर जीवन की संस्कृति दिया है। कहते हैं, जब जीवन में कोई सहारा न रह जाय तब व्यक्ति को मात्र संस्कृति

अवलम्ब देती है। आफत-बिपत में जब परान साँसत में होते हैं, तब गंगा मैया एक 'पियरी' के आश्वासन पर सारा दुःख बहा ले जाती है। जीवन की अंतिम बेला में भी कितने दुलार भरे स्वर में कहती है — "तू कितना थक गया है, पगले! आ, मेरी गोद में विश्राम कर ले। शिव कल्याण करें।"



उत्तर-मानस की नदी — गंगा

गंगा बड़ी गहरी है। पाताल से पराव्योम तक इसकी सहज व्याप्ति है। पवन में, प्राण में, पृथ्वी, पाताल और परम धाम तक में चेतना की जो तरल संवेदना तैरती है, गंगा उसी की एक कंठ-मधुर संज्ञा है। सामान्य बहाव के सन्दर्भ में गंगा अपने उद्गम स्रोत से निकल कर उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है। उत्तर दिशा में नगाधिराज हिमालय है जिसकी सबसे ऊँची शिखर-श्रृंखला कैलास है। कैलास पर नीलकंठ शिव समाधिस्थ बैठे हैं। उनकी केश-राशि असीम आकाश में बिखरी है। इसीलिए, उनका एक नाम व्योमकेश भी है। सुदूर अंतरिक्ष में विद्युत्-तरंग की सूक्ष्म, सर्पिल लहरें रेखाओं की परिभाषा जैसी नाच रही है। अंबर की इन्हीं नीलाभ लहरों में गंगा प्राणिक ऊर्जा की उजास बनकर फैल जाती है।

वैदिक ऋषियों की एक अनूठी स्थापना है जिसे 'उत्तर-दृष्टि' का शीर्षक दिया जा सकता है। इस शास्त्रीय समीक्षा के अनुसार उत्तर केवल दिशा ही नहीं, एक दर्शन भी है। इस दर्शन की बड़ी धधकती मान्यता है कि सृष्टि की सारी खंडित सत्ता अपनी मौलिक पूर्णता की खोज में भटकती है और अपनी उपलब्ध सीमाओं का विरल विस्तार इस पूर्णत्व के अन्वेषण का आदि-स्वर है। विश्व की संपूर्ण संरचना में सर्वत्र 'कुछ' है जो 'कुछ और' होना चाहता है। अपनी सीमाओं के पार जाना जीव और पदार्थ दोनों का स्वभाव है। विराट सृष्टि के प्रत्येक अंश में स्वयं के अतिक्रमण की प्रवृत्ति छिपी रहती है। जीवन और जगत् की सारी भाग-दौड़ अपनी खोई हुई सनातन पूर्णता की प्राप्ति के लिए होती है। इसीलिए, अपना रूखा-सूखा अतीत भी कितना रसमय लगता है, भूली-बिसरी सुधियाँ कैसी-कैसी गुदगुदी भरने लगती हैं और बीते हुए दुःख के दिन भी सोचने पर कितने सुखद लगते हैं! ऐसा इसलिए होता है कि अपनी पूर्णता के प्रति मन की पुरातन प्रीति में अमृत-बन्धुता का भाव भरा रहता

है। उत्तर-दर्शन के आलोक-बिन्दु से यही शाश्वत भाव गंगा की सही पहचान का सूत्र है।

वस्तुतः, गंगा उत्तर-मानस की नदी है। भौतिक अर्थों में वह उत्तर हिमालय के मानसरोवर की सरिता है, लेकिन ब्रह्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में वह मन के उस पार की नदी है। दुनिया की हर छोटी चीज़ बड़ी होकर बिखरना चाहती है, प्रत्येक अल्पांश बृहत्तर होना चाहता है और जो पहले से बड़ा है वह और बड़ा होना चाहता है। ऐसा बड़प्पन निस्सन्देह रूप से अपनी इयत्ता या अस्मिता के उस पार जाने पर ही मिलता है। गंगा का उदात्त रूप तब उभरता है जब वह केवल जल की व्यथा ही नहीं, काल की करुण कथा भी कहती है। पदार्थ का अतिक्रमण प्राण में, प्राण का मन में और मन का विलयन ब्रह्म में होता है। सामान्य विचारक के लिए ब्रह्म कल्पना-मात्र है, लेकिन किसी उत्तर-योगी के लिए वह अतिमानसिक यथार्थ है। मन की निर्वाण-भूमि पर ही निष्कल ब्रह्म की ज्योति-शिखा जलती है। मन जब अपना अतिक्रमण करता है तब वह तुरीय के निर्धूम आलोक में लीन हो जाता है। इसी आलोक में ब्रह्म-दर्शन की संभावना साकार होती है। इस दर्शन से वंचित रह जाने पर ब्रह्म-द्रव के संस्पर्श की सिहरन का अर्थ समझ में नहीं आता। लेकिन, उत्तर-मानस के तल पर काल का कंपन भी ठहर जाता है। अपनी कालातीत सत्ता से वियुक्त रहना मन की सबसे मार्मिक पीड़ा है। गंगा इसी आदिम व्यथा की तरल कथा है। इसीलिए, अंतर्मन की सूक्ष्म सारस्वत धारा को गंगा की ख्याति मिली है।

गंगा केवल सुप्त संज्ञाओं की सरिता नहीं है। वह पावन चेतना की जाग्रत् ऋचाओं की रस-तरंगिणी भी है। नीहारिकाओं के कलरव और आकाश-गंगा के उज्ज्वल धुंध में भी गंगा बहती है। वैज्ञानिकों का कथन है कि अखिल ब्रह्मांड के नब्बे प्रतिशत अंश में उद्‌जन (हाइड्रोजन) का अस्तित्व है। वैसे, अपनी चेतना की पवित्रता का प्रश्न है, वरना देखा जाय तो प्रत्येक परमाणु के गर्भ-प्रान्त में गंगा का निवास है। वस्तुतः, अंतरिक्ष के पन्नों पर पानी के अक्षरों से लिखी गई कविता गंगा है। इसीलिए, गंगा चेतना के अद्भुत रूपान्तरण की प्रक्रिया का प्रतीक है। जाह्नवी के तट-वृक्ष पर निवास

करने वाला कौवा भी परमहंस की गति प्राप्त कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास ने एक गूढ़ संकेत किया था कि इस शिवात्मिका गंगा में डुबकी मारने वाला काक, पिक और बक, मराल बन जाता है — "काक होइ पिक बकउ मराला"। बाहरी कलेवर में कोई परिवर्तन भले न दिखाई दे, भीतर की दुनिया पूरी तरह मिठास और माधुर्य से भर जाती है। कौवे के कंठ से कोयल के स्वर की कोमलता फूट पड़ती है और फूहड़ गति वाले धूर्त्त बगुले में विवेकी हंस के गमन की गरिमा आ जाती है। सत्य की दिशा में इस आंतरिक परिवर्त्तन की प्रेरणा को गंगा कहा जाता है। उत्तर दिशा की ओर बहने का यही भावार्थ है। इसीलिए, गंगा को उत्तरवाहिनी भी कहते हैं।

गंगा परम सत्य के सान्निध्य की सांस्कृतिक व्यंजना है। विपुल जल-राशि वाली ढेर-सारी नदियाँ धरती पर बहती हैं, लेकिन अंबर का छन्द लेकर मन में मंत्र की तरह फूट पड़ने वाली एक ही नदी गंगा है। गंगा का जल पानी भी है, प्रकाश भी है। उसमें चंदन की सुगंधि भी है, मधुवर्षी चाँदनी की चारुता भी है। गंगा मन की पवित्रता का पर्याय भी है और तुरीय की संभावना की सौम्य सुकृति भी है। भारतीय सृष्टि-विद्या का ऋषि जब "आपो ह वा इदमग्रम् आसीत्" (सृष्टि में सबसे पहले केवल पानी ही था) की घोषणा करता है तब वह इसी गंगा की ओर इंगित करता है। आदि सत्ता के इसी प्राण-सलिल से शेष जीवों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, प्रत्येक व्यक्ति के मन में, साँसों के स्वर में और विचारों की सिहरन में गंगा की लहर उठती है। गंगा किसी पार्थिव परिमाण की नहीं, स्निग्ध सात्त्विक प्राण की नदी है।

गंगा की लहरें आकाश तक ऊपर उठती हैं। जिस अंबर-पथ से ये लहरें गुजरती हैं वहीं एक गंगा उदित हो जाती है। इसीलिए गंगा की एक संज्ञा 'उदितांबर मार्गा' भी है। ऊपर की दिशा को उत्तर भी कहा जाता है। ऊपर उठने वाली प्रक्रिया मन के धरातल पर भी घटित होती है। विचार ही मन की उपस्थिति का सूचक है। जब मंत्र की शक्ति से मन अपनी स्थायी अवस्था से ऊपर उठता है तब वह विचार-शून्य 'निर्मन' का नवीन संस्करण बन जाता है। व्यक्ति के प्राणों के भीतर इसी मानसिक हुलास की प्रक्रिया

गंगा है। इस मानसी गंगा की लहरों का ऊपर उठना और नीचे गिरना दोनों ही सुखमय प्रतीत होते हैं। जब तक चित्त विभक्त रहता है तब तक ऊपर और नीचे का भेद बना रहता है, लेकिन जब वह अपनी सहज स्वाभाविक और 'अक्षुब्ध' अवस्था में रहता है तब उसके इधर-उधर भटकने और गुमसुम बैठने का अन्तर समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में, एक सघन आनन्द से भरा सारा आकाश अपना लगता है।

आत्म-बोध की इसी निष्पाप चेतना के उदय को मन का स्वयं के पार जाना कहते हैं। भावों की दुनिया से दूर, अभावों की पीड़ा से परे चेतना का एक ऐसा स्तर है जो वेदान्त के सार-सिद्धान्तों के भौतिक प्रतिरूप जैसा प्रतीत होता है। वैदिक ऋषियों ने इस स्तर को उत्तर मन, परा चेतना और अतिमानस आदि ढेर सारे नाम दिए हैं। ब्रह्म-सिद्धान्त इसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से अतीत मन का 'चतुर्थ लोक' मानता है — "आपो ह वा चतुर्थी लोक:"। उपनिषदों का यही 'आप:' समष्टि में व्याप्त रहने के कारण (सर्वं आप्नोति व्यापयति इति आप:) उत्तर मानस का पर्याय है आध्यात्मिक संदर्भ में गंगा चेतना के सलिल भाव की अतिव्याप्ति है। अत:, गंगा के उत्तर वाहिनी होने का तात्पर्य है विश्व के सारे जटिल विस्तार का सरलता के कैवल्य-बिन्दु पर विसर्जित हो जाना या सृष्टि के मूल तत्त्व का स्वयं में विलीन होना। इसी सत्ता में मन के विलयन से मुक्ति का द्वार खुलता है। इसीलिए, गंगा का उत्तरवाहिनी होना वेदान्त की अनुभूति का साक्षी बन जाना है।

मन का अपना उछाह है। वाणी की अपनी व्यथा है। वाणी की यात्रा विशुद्धि चक्र पर समाप्त हो जाती है और उसके बाद वह गहन मौन का पर्याय बन जाती है। यही कारण है कि मन कुछ और कहना चाहता है, लेकिन वाणी कुछ और ही कह जाती है। दूरागत वंशी की तान निकट आकर तीव्र स्वर का तनाव बन जाती है, चीज़ें एक अंतराल से सुन्दर लगती हैं, आँखों से सटाकर देखने पर सौन्दर्य लुप्त हो जाता है। कभी-कभी लगता है, अब सत्य प्रकट होगा तभी एक बौना यथार्थ खड़ा होकर हँसने लगता है। मन और वाणी के बीच एक निरन्तर दूरी बनी है जो दोनों को सरलता से एकाकार नहीं होने देती। पदार्थ और पवन, प्राण और मन तथा उत्तर-मानस और ब्रह्म

सबको एक सूत्र में बाँध लेने वाली विद्या को वाङ्मय कहा जाता है। वाक् और मन की संयुति गंगा है। वस्तुत:, गंगा समष्टि के वाङ्मय की नदी है।

सृष्टि के सारे जीवों के कंठ में एक गंगा की लालसा निवास करती है जो अव्यक्त के प्रति सहज उत्कंठा बनकर फूटती है। मंत्रों के द्रष्टा ऋषि और कवि-मनीषी सबने गंगा को समस्त वाङ्मय का स्रोत माना है। गंगा का उत्तर की ओर बहना संपूर्ण वाङ्मय से ऊपर उठ जाना या विचारों के स्रोत का अतिक्रमण करना है। ऐसी अवस्था को मन की 'भावातीत दशा' भी कहा जाता है। इस दशा के पीछे एक विराट दर्शन है। अत:, उत्तर शब्द को केवल एक दिशा मान लेना, वैदिक संस्कार से वंचित रह जाना है। रहस्य की बात है कि उत्तर मात्र आकाश का ही नहीं काल का भी द्योतक है। ऐसी स्थिति में किसी निकाय के उत्तरधर्मी होने का अर्थ है उसकी संहति की समग्रता को एक अतिरिक्त आयाम देना। सारा ब्रह्मांड आकाश और काल की सीमा में घिरा है। आकाश की परिभाषा के लिए तीन ही निर्देशांक पर्याप्त हैं। चौथी विमा (डायमेन्सन) काल का पर्याय है। काल एक काल्पनिक आयाम है जिसमें मन की सत्ता निवास करती है। देहात्मभाव से भरा मन दुर्भाग्य से स्वयं को तीन ही विमाओं से बँधा पाता है। लेकिन, जब उसे अपने सनातन भाव का स्मरण होता है तब काल का चतुर्थ आयाम अनायास एक नया अर्थ लेकर मन से जुड़ जाता है। मन काल का सहचर ही नहीं पर्याय भी है, लेकिन दोनों के बीच माया की दीवार खड़ी रहती है। इसीलिए, दोनों के एक होते हुए भी मन को काल का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। यही कारण है कि आगस्टीन जैसे दार्शनिक भी कहते हैं कि "मैं जानता हूँ कि काल क्या है, लेकिन बता नहीं सकता कि वह क्या है?" मन और काल के एकीभाव का बोध उभरते ही द्वैत की छलना अद्वैत के सत्य में रूपान्तरित हो जाती है। गंगा का उत्तरवाहिनी होना इसी रूपान्तरण की मानसिक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है।

प्रत्येक व्यक्ति का मन अपने स्वरचित व्यामोह के वृत्त में बँधा रहता है। लेकिन, वही मन जब इन्द्रियों को पदार्थ से प्राण की ओर प्रेरित करता है तब वह उलटी दिशा में, अर्थात्, ऊपर की ओर उठता है। प्राणों का परमात्मा की

ओर प्रवाहित होना उत्तर स्थिति का सूचक है। किसी योगी की चित्तभूमि में जब समाधि उतरती है तब मन की तरंगें सूक्ष्म अव्यक्त की ओर उठने लगती है। इसीलिए, गंगा का उत्तर की ओर बहना और चेतना का ऊर्ध्वचारी होना एक ही बात है। कैवल्य का आनन्द मन के ऊपर उठने में ही मिलता है। समाधि के अमृत रस का पान करने के बाद मानस-तरंगों की जो ऊर्ध्व गमन की प्रक्रिया आरंभ होती है वही उत्तरमन का स्थायी भाव बन जाती है।

विश्व का समस्त विस्तार स्वर और समीर की संयुति है। गंगा इसी उत्तर-प्राण के काल और स्वर की नदी है। वैदिक ऋषियों ने काल को 'अश्व' कहा है — ''एको अश्वो वहति सप्तनामा''। काल जब भी काँपता है, कणों की सृष्टि होती है। अत:, काल को कणों के वेग के रूप में ही समझा जा सकता है। पुन:, कणों के कंपन से प्रकाश उत्पन्न होता है और वह सहसा सात संस्तरों में विभक्त हो जाता है। काल के सप्तधा विभाजन की प्रवृत्ति पदार्थ के ऊर्जा-स्तरों या प्रकाश के स्पेक्ट्रम में ही नहीं प्राणों के स्वर में भी देखी जा सकती है। पुरातन ऋषियों ने इसी दृष्टि से सृष्टि को 'सात बहनों का संगीत' कहा है — ''सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते''। प्राण और प्रकाश के सप्तरूप विभाजन की प्रक्रिया पानी पर भी लागू होती है। यही कारण है कि नदियाँ भी सात मानी गई हैं। ये सात नदियाँ पूर्णता का बोध कराती हैं। नदियों के संपूर्ण रूप को 'सप्त-सिन्धु' की संज्ञा दी गई है।

वेदों में नदियों को 'आपो देवी:' और कहीं-कहीं 'स्वर्वती अप:' भी कहा गया है। सृष्टि के समस्त जड़-चेतन की सूक्ष्म-शिराओं में किसी अलौकिक दिव्यता की एक प्रच्छन्न प्राणमयी धारा बहती है। इसी धारा के साथ जब हमारी चेतना अवश अनायास बहने लगती है तब लगता है जैसे कोई अबोध शिशु माँ की गोद में अनाकुल विश्राम कर रहा है। इसीलिए, नदियों को देवी या माँ की प्रतिष्ठा दी गई है। वस्तुत:, जल जीवन का ही एक नाम है। 'स्वर्वती अप:' एक बृहत्तर भाव-संसार से बोझिल शब्द है जिसका अर्थ है वह पानी जिसमें सूर्य का प्रकाश भरा हो। वैदिक शब्दावली में 'गा:' शब्द गाय ही नहीं, प्रकाश की किरणों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। अत: गंगा (गम् + गा:) का अंतर्निहित भाव है — प्रकाश की किरणों का संचरण।

गंगा उच्चतर चेतना की ज्योति-लहर है जिसके पावन संस्पर्श से जीव मात्र की प्राण-धारा ऊपर उठने लगती है। गंगा इहलोक में ही नहीं जीव की परलोक यात्रा में भी उत्तरायण का मार्ग प्रशस्त करती है।

सरितायें सारत: सागर की संतति होती हैं। समुद्र की विशाल जल-राशि सूर्य के आतप में तपती है। पानी वाष्पीभूत होकर बादल बन जाता है। आकाश के दुरन्त विस्तार में बिखरे बनजारे बादल धूसर मृगछौनों की तरह दौड़ते-लुढ़कते रहते हैं। शीत वात के किसी उन्मत्त आवर्त में पर्वत शिखरों पर आ गिरते हैं। बादल वर्षा की बौछार बनकर सहस्त्र धाराओं में पाषाण खंडों से टकराते हैं, टूटते हैं, जुड़ते हैं और धरती पर नदियों के रूप में बहते हुए पुन: सागर की गोद में लौट आते हैं। यह तो साधारण नदियों की बात है। लेकिन, वैदिक ऋषि जिन नदियों को 'दिव्य जल' की सरिताएँ कहते हैं वे प्राणिक आवेश से भरी होती हैं, परम तत्त्व की विमल सत्ता से संपृक्त होती हैं और उनमें समष्टि के प्राणों की सिहरन निवास करती है। जड़ पत्थरों को काटकर उन्हें वज्रधारी इन्द्र पृथ्वी के सुन्दर समतल में ले आता है — ''इन्द्रो या वज्री वृषभो रशद''। ये नदियाँ, प्रतीकात्मक रूप से, पदार्थ सत्ता से ऐंद्रिक जीवन के उद्भव की ओर संकेत करती है। इन नदियों में मधु की हिलोर उठती है। शास्त्रीय सन्दर्भ में मधु प्राण की ही एक संज्ञा है। इस माधवी नदी में वरुण, सोम और अनेक देवता आनन्द विभोर होकर स्नान करते हैं और शुचिता की सनातन धारा में खूब पानी पीते हैं। सारी देव-सृष्टि गंगा की लहरों से भागवत सुरा का छककर पान करती है और परम सत्ता के हृदय प्रदेश से उठने वाली मंदिर ऊर्जा की तरंगों में झूम उठती है — ''यासु राजा वरुणो यासु सोमो, विश्वेदेवा यासु ऊर्जं मदन्ति।''

इतना ही नहीं, वैदिक दृष्टि से नदियाँ अग्नि-गर्भा मानी जाती हैं। पानी के भीतर शीतल आग की संभावना सोई रहती है। वस्तुत:, अग्नि सलिल की संतान है, अपां नपात् (पानी का पुत्र) है। दीर्घ तमस् ऋषि का तो कहना है कि समुद्र ने ही सूर्य को जन्म दिया है — ''अत्रा समुद्र आगूढम् सूर्यमजभर्तन''। ध्यान देने की बात है कि इस समुद्र से किसी भौगोलिक सागर का अभिप्राय नहीं है। यह समुद्र ऊपर का है, 'ऊर्ध्व समुद्र' है जो सत्ता की आकाशीय

विस्तीर्णता या उच्चतर चेतना के अनन्त विस्तार का प्रतीक है और सूर्य सत्य या प्रकाश का अधिपति है। सीधे शब्दों में, गंगा सत्य और ज्योति की नदी है। साधारण नदियाँ पर्वतीय ऊँचाइयों से समुद्र की ओर, अर्थात्, ऊपर से नीचे की ओर बहती हैं, लेकिन पूर्वज ऋषि जिस देव-नदी की चर्चा करते हैं वह भौतिक सत्ता के अंत:प्रान्त से उठकर प्राणों की ज्योतिर्मयी धारा बनकर ऊपर ऊर्ध्व-चेतना के अनन्त व्योम में समाहित हो जाती है। मंत्र द्रष्टा आर्यों की नदियों के प्रति एक बड़ी ही भाव-भीनी प्रार्थना है — वे नदियाँ जो आलोक से पूर्ण हैं, मधुमती हैं, घृतस्रावी हैं, पावक हैं और जिनके भीतर वैश्वानर अग्नि की प्रतिष्ठा है, वे हमारी रक्षा करें — "मधुश्चुत: शुचयो या पावका स्तर: वैश्वानरो या स्वग्नि: प्रविष्टास्ता आपो देवी रिह मामवन्तु।"

जल के भीतर अग्नि की अज्ञात अवस्था की संधारण वैज्ञानिक दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक खगोल-विज्ञान के अनुसार नक्षत्र और नीहारलोक की सृष्टि से पूर्व संपूर्ण ब्रह्मांड हाइड्रोजन गैस का विरल अछोर सागर था जिससे कालान्तर में संलयन-प्रक्रिया द्वारा सृष्टि के अन्य तत्वों की रचना हुई। अग्नि की उत्पत्ति भी सूक्ष्म धरातल पर हाइड्रोजन-परमाणुओं के पारस्परिक संयोग की ही देन है। वेदों में जिस जल की चर्चा की गई है वह सूक्ष्म दीप्ति से भरा (घृतप्रषुम्) और सौ बार छाना हुआ (शत: पवित्रा:) है। यह अदृश्य है जो लौकिक अर्थ में प्रचलित जल से भिन्न है। वैदिक शब्दावली में उसे अंभस् या आप: कहा गया है। अग्नि के स्थान पर भौतिक विज्ञान में ऑक्सीजन शब्द का प्रयोग होता है जो हाइड्रोजन से मिलकर स्थूल जल के रूप में परिणत हो जाता है। लेकिन, वैदिक ऋषियों की दृष्टि आधुनिक विज्ञान की सीमा में बँधने के लिए विवश नहीं है। उनका लक्ष्य तो चेतना की निर्बाध विशालता को अपने प्राणों की सीमा में बाँध लेना है। इसीलिए, संस्कृत वाड्मय में जल को जीवन की संभावना का प्रतिरूप माना गया है।

जीवन की संपूर्ण तरलता, सारी मिठास, समूचा स्वाद और सभी रंगों के रहस्य, सृष्टि की विरल तन्मात्रा के सही संयोजन पर निर्भर रहते हैं। प्रकृति के विभिन्न अवयवों के अनुपात परिवर्त्तन से सारी बात बदल जाती है। यह

एक वैज्ञानिक यथार्थ है कि चीनी के कण कार्बन और हाइड्रोजन के आणविक संयोग से बनते हैं। मज़ा यह है कि मिठास न कार्बन में होती है और न हाइड्रोजन में, लेकिन जब दोनों के परमाणु एक निश्चित अनुपात में आपस में जुड़ते हैं तब चीनी के अणुओं में मिठास पैदा हो जाती है। अत:, सौम्य अनुपात का संतुलन माधुर्य का मौलिक प्रतिबन्ध है। यह तो जुड़ने की बात हुई। सच कहा जाय तो मुड़ने की कथा भी कम कोमल नहीं है। पानी का रूप लेने के लिए ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का क्रमश: एक और दो के अनुपात में जुड़ना ज़रूरी हैं, लेकिन उनके आयनों का 105 डिग्री के कोण पर मुड़ना भी आवश्यक है। सुगंधि और सौन्दर्य के लिए, सौम्यता और मधुर स्वाद के लिए अनुपात की अपनी महत्ता है। लेकिन, साथ ही, मुड़ने का कोण जितना बड़ा होता है संबन्धों में उतना ही लचीलापन होता है और इस लचक का भी अपना लालित्य होता है। सौन्दर्य जब सम्यक् अनुपात की सीमाओं में प्रकट होता है, तब उसकी मोहकता प्राणमयी होती है और प्राणशीलता मोहक होती है। काशी में गंगा के ऐसे ही विरल माधुर्य का भाव उभरता है।

भारतीय मनीषा क्रिया को नीरस गति का पर्याय नहीं मानती, बल्कि प्रत्येक क्रिया को हृदय की आर्द्रता देकर उसे एक सुकोमल भाव से भर देती है। ऐसी भावमयी क्रियायें मंगल कर्म का रूप ले लेती हैं। काशी में गंगा का उत्तर की ओर बहना कोई साधारण क्रिया नहीं है, सृष्टि-यज्ञ का बड़ा आध्यात्मिक कर्म है। किसी नदी का धरती की संरचना के अनुरूप कहीं उत्तर की ओर बह निकलना कोई विशेष बात नहीं है। लेकिन, यदि वह नदी शंकर की जटा से निकलने वाली गंगा हो और उसके अत्तराभिमुख होने का स्थल काशी हो तो अभिधा उछलकर लक्षणा के धरातल पर चली जाती है। तब उत्तर का अर्थ दक्षिण की विपरीत दिशा नहीं, ऊपर, अत्यन्त ऊपर परा-आकाश होता है जहाँ ज्योतिर्मयी लहरों का दिव्य कलरव होता है। पानी का स्वभाव तो नीचे की ओर बहने का होता है, लेकिन प्रकाश ऊपर की ओर उठता है। काशी आध्यात्मिक आलोक का प्रतीक है, अत: यहाँ आकर गंगा ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। आर्यभूमि के धुर उत्तर की गगनचुंबी पर्वतमाला से

प्रस्थान करने वाली गंगा रामनगर के तट पर वर्त्तुल अधिकोण से मुड़कर काशी के सीमा में पुनः उत्तर की ओर बहने लगती है। शिव के सान्निध्य में गंगा संकोच से ऐसे पलट जाती है जैसे किसी नई-नवेली दुल्हन को एक बार फिर बाबुल के घर की याद आ गई हो और वह पुनः हिमालय की ओर लौट जाना चाहती है। काशी-प्रान्त में गंगा का यह संचारी भाव स्थायी रूप में ढल जाता है। झिलमिल लहरों, मंथर प्रवाह और स्तंभित आवेग वाली गंगा शिव की नगरी में ऐसे बहती है जैसे औचक ठहर गई हो। इस ठहराव में इतनी तृप्ति झलकती है जितनी आतुर उत्कंठिता के ज्ञात-यौवना बन जाने में होती है।

काशी में गंगा के उत्तर की ओर बहने के निःसन्देह कुछ वैज्ञानिक कारण भी है। गंगा को एक साधारण नदी मान लें तो यथार्थ के धरातल पर स्थूल भौमिकीय कारण पर्याप्त माने जा सकते हैं। आईन्स्टाइन ने यह सिद्ध करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है कि सारी नदियों का मार्ग सर्पिल होता है और यह सर्पिल आकृति गुरुत्वाकर्षण के कारण होती है। गंगा को भौतिक दृष्टि से देखने पर उसके काशी में उत्तरवाहिनी होने का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में साधारण बुद्धि से भी इसका कोई-न-कोई उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन, आर्य प्रज्ञा स्थूल के प्रति इतना समर्पित नहीं होती। हिन्दू-मन गंगा को किसी सामान्य सरिता के रूप में न देखता है, न जानता है और न मानता है। बृहत्तर सत्य के संदर्भ में उसे सारे वैज्ञानिक कारण सतही और कामचलाऊ लगते हैं। उसे गंगा में प्राणों का उल्लास दिखाई देता है, बहन का पवित्र प्यार दिखाई देता है, माँ की ममता दिखाई देती है और कुल मिलाकर आत्मा के उत्कर्ष की सीमा दिखाई देती है। वस्तुतः, काशी में गंगा के उत्तर-प्रवाह का प्रश्न विज्ञान से उतना संबंधित नहीं है जितना आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि से है।

काशी में गंगा का उत्तर की ओर बहना भारतीय ऋषि-पुत्रों के लिए बड़ा ही अर्थगर्भित सन्दर्भ समेटे है। दृश्य प्रकृति के जिस अंश में मानस-सत्ता के सूक्ष्म प्रतीकों की व्यंजना जितनी सघन और सहज होती है उसे आर्ष दृष्टि से उतना ही पूज्य और पवित्र माना जाता है, क्योंकि बुद्धि की स्थूल के

प्रति आसक्ति से देह-भाव की चाहे जितनी संपुष्टि हो मन का हरदम पतन होता है। भौतिक सत्ता को ही सब कुछ मानने वालों को वैदिक ऋषि 'पशु' की संज्ञा देते हैं — "तं विश्वरूपा: पशवो वदन्ति"। व्यक्ति का मन अश्लील, पतित और पाप-लिप्त न हो, इसीलिए गंगा को परा-चेतना की पयस्विनी कहा जाता है। गंगा-स्नान से देह का पवित्र होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना चेतना के ब्राह्मी सलिल में डुबकी लगा कर मन का एक विराट आयाम में निमग्न हो जाना है। काशी में गंगा के उत्तर की ओर बहने का एक आध्यात्मिक रहस्य है।

हजारों साल पहले एक बार महर्षि अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि "आत्म-तत्त्व का रहस्य कैसे जाना जाय?"। याज्ञवल्क्य ने कहा था कि इसके लिए 'अविमुक्त' की उपासना आवश्यक है। अत्रि का अगला सवाल था — "अविमुक्त कहाँ अवस्थित है, किस स्थान पर उसकी प्रतिष्ठा है?" तब, याज्ञवल्क्य ने एक गूढ़ उत्तर दिया था — "वरणायां नास्यां च प्रतिष्ठित:"। अविमुक्त का अर्थ है मुक्ति के बन्धन से परे, क्योंकि गहराई से देखें तो मुक्ति की कामना स्वयं एक बन्धन है। जहाँ मुक्ति की चिन्ता भी शेष न रहे, अर्थात्, जहाँ बिना चाहे अनायास मुक्ति मिल जाय उसे अविमुक्त क्षेत्र कहा जाता है। यह क्षेत्र 'वरणा' और 'नास्यां' अर्थात् वरुणा और असी उपनदियों के बीच स्थित है। दूसरा संकेत है कि यह स्थल बरौनियों (वरणा) और नासिका (नास्यां) के बीच है। पहला स्थल तो भौगोलिक काशी है। दूसरे स्थल को योग की भाषा में 'आज्ञा-चक्र' कहा जाता है जो प्रत्येक व्यक्ति की भौंहों और नाक के बीच कुंडलिनी के शक्ति-केन्द्र के रूप में अवस्थित है। इस आज्ञा-चक्र को ज्योतिर्मयी काशी भी कहा जाता है — "आज्ञा-चक्रं स्मृता काशी"।

आज्ञा-चक्र में कार्य-कारण की श्रृंखला टूट जाती है, मन और पदार्थ का प्रश्न निरस्त हो जाता है, सारी दूरियाँ अनन्त में डूब जाती हैं, कार्य स्वयं अपना कारण बन जाता है और ऐसी स्थिति में काल ठहर जाता है। आज्ञा-चक्र चेतना के ठहराव का बिन्दु है जहाँ से प्राण की धारा ऊपर ब्रह्मलोक की ओर उठने लगती है। यही अविमुक्त क्षेत्र काशी है। योग-साधना द्वारा

जिसका आज्ञा-चक्र जाग्रत् हो जाता है उसकी चेतना नित्य आलोक के बृहत्तर आयाम में अवगाहन करती है। तब, जीवन के सारे क्रिया-कलाप उत्तर-मानस के सूक्ष्म स्फुरण से संचालित होते हैं। ऐसी स्थिति में साँसें चलती हैं, लेकिन वायु का अभाव अखरता नहीं है, कर्म की गति रहती है, मन की आसक्ति नहीं रहती है, संबन्धों की श्रृंखला होती है, लेकिन कहीं लिप्त रहने की लालसा नहीं रहती है। तब, मन निरन्तर उत्तरायण के बन्धु-पथ पर अनासक्त भाव से संचरण करता है। उत्तरवाहिनी गंगा चेतना के इसी विमल सत्य की ओर संकेत करती है।

गंगा शिव के मंगल प्रहर्ष की कथा कहती है। हिमालय के भोज-वृक्षों के झरे पत्तों पर जब गंगा शिवत्व का काव्य अंकित करती है तब पाषाण-शिलाओं में भी संगीत की पावन सिहरन भर जाती है। कैलास के धवल शिखरों पर जब पूनम की चाँदनी अपने एकान्त उत्सव का छन्द उकेरती है तब कठोर चट्टानें भी रिसने लगती हैं और धरती की वेदना से जब आकाश की आँखें सजल होती हैं तब गंगा जैसी अगाध करुणा की नदी बहती है। कितने जन्मों की व्यथा, कितनी आलोक-यात्राओं की गाथा और कितनी विह्वल कामनाओं की कथा गंगा की लहरों में घुली है, कहना कठिन है। अपने नश्वर शरीर की अस्थियों के भस्म-अवशेष तक को गंगा में विसर्जित करने की मधुर लालसा इस विराट दर्शन वाले देश की आत्मा में रची-बसी है। ऐसी पवित्र श्रद्धा किसी दिशा के प्रति हो तो उसे संकीर्ण और एकदैशिक कहना पड़ेगा। लेकिन, यही श्रद्धा जब किसी बृहत्तर मानसिक आयाम के सन्दर्भ में निवेदित की जाय तो उसे सनातन संस्कृति की शाश्वत परंपरा के प्रति प्रणाम कहा जाएगा। गंगा शब्द भारतीय संस्कृति का पर्याय है। वस्तुतः, गंगा सूक्ष्म संस्कार की, सार्वदैशिक दर्शन की, विपुल औदार्य की और, संक्षेप में, उत्तर-मानस की नदी है।



अंतर्लोक की गंगा

एक स्वर्ग की गंगा है। वह आकाश में बहती है। इस गंगा में दूधिया रोशनी की सलोनी लहरें उठती हैं। शीतल चाँदनी जैसी कोमल धूप की इस नदी को आकाश-गंगा कहते हैं। इस ज्योति की सरिता में स्नान करने से सारा आकाश अपना लगता है। एक पवित्र पानी की गंगा है जो पृथ्वी पर प्रवाहित होती है। इसमें विशाल हिमालय की धवल उजास पिघल कर बहती है। इस गंगा की धारा में अगाध शांति और निर्विकल्प उल्लास का विलक्षण समन्वय है। इसके जल में देवदार की छाँह, चन्दन वन की सुगन्धि और भोज पत्र की पवित्रता घुली रहती है। धरती की गंगा सागर की नीली गहराई में लीन हो जाती है। यह समष्टि के पुण्य की नदी है। इसमें नहाने से मन में समुद्र का गांभीर्य भर जाता है। एक और गंगा है जो प्रत्येक देहधारी के प्राणों में बहती है। इसे मानसी या अन्तर्लोक की गंगा कहा जाता है। सारे जीवों के भीतर सहस्रार के गोमुख से स्वाधिष्ठान के गंगा-सागर तक यह नदी बहती है। यह प्राणों की गंगा है, निर्बाध उल्लास की गंगा है, चिन्मय आलोक के प्रति पावन विश्वास की गंगा है। इस गंगाजल की एक बूँद भी कण्ठ में जाये तो लगता है जैसे पपीहे की प्यास को स्वाती के नीरद-बिन्दु का अमृत मिल गया है।

अंतर्लोक की गंगा सघन पुण्य और अखण्ड ध्यान से ज्ञात होती है। हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति पदार्थ के पीछे बड़ी दूर तक भागता है। लेकिन, अपने ही प्राणों के पिछवारे जो आनन्द की सरस्वती चुपचाप बहती है उससे पूरे जीवन तक परिचय नहीं हो पाता। सन्त कबीर ने इसी सन्दर्भ में कहा था — ''अरे देखो, वह धाबी पानी में खड़ा है और प्यास से मरा जा रहा है।'' स्वाधिष्ठान जल का ही नहीं काम का भी केन्द्र है। इस काम-सिन्धु की वीचियाँ ऊपर उठकर शिव की जटा में समाहित होना चाहती है। शंकर की जटा दैहिक धरातल पर मस्तिष्क के

स्नायु-तंत्र का प्रतीक है। इस निर्मल पवन की नदी में हर कोई नहाता है, लेकिन मनुष्य के भाग ऐसे फूटे हैं कि वह इस नदी का नाम भी नहीं जानता। जिनका ज्ञान इंद्रियों तक ही ठहरा है उन्हें अपनी साँसों की देव-सरिता का आभास नहीं होता। यह नदी जन्मात्राओं के तटबन्ध से गुजरती है, अत: मात्राओं के मृषा-मोह में फँसे व्यक्ति को मानस के देव-प्रयाग की अंतर्धारा के स्वर सुनाई नहीं पड़ते। अपने अंतर्लोक की गंगा में नित्य स्नान करने वाला जीवन धन्य है।

मनुष्य के शरीर की सुरसरि का जल-पथ अत्यन्त सूक्ष्म और एकान्त है। हर आदमी की खोपड़ी के नीचे एक औंधा आसमान है जिसमें अनन्त सत्ता की रास-लीला चलती रहती है। आंतरिक दिगन्त के अन्तराल में आनन्द के बुद्‌बुद्‌ छिटकते हैं, अमृत की फुहार झरती है, मंजरित वसन्त की बयार झुरकती है और साँसों में ऐसे विरल मधु की वर्षा होती है कि मन भींग-भींग जाता है। मनुष्य के प्राणों में इसी मधु के स्वाद की लालसा छिपी रहती है। साँसे बार-बार ऊपर की ओर अमृत-पान के लिए उठती हैं, लेकिन उसके स्वर अक्सर मध्य-प्राण पर ठहर जाते हैं। इसीलिए, मन निरन्तर काम और क्षुधा के केन्द्र पर ही रुक जाता है। फिर भी, जब कभी अनायास विह्वल प्राण मानस-कैलास की निर्धूम ज्योत्स्ना में स्नान करते हैं, तब मस्तिष्क की सारी शिराओं में शिव के अमन्द प्रहर्ष का ऐसा फेनिल ज्वार उठता है कि मन माधुर्य से बेसुध हो उठता है। सहस्त्रार की चोटी पर सहस्त्र-केलि का आनन्द मिलता है। योग की शब्दावली में, मस्तिष्क के सहस्त्रार-क्षेत्र को कैलास (केलीनां समूह:) की संज्ञा दी जाती है। गंगा इसी कैलास की निर्मल वारि-धारा है।

सृष्टि में केवल अपनी साँसे सच हैं, बाकी सब बहाना है। व्यक्ति की देह-चेतना और विश्व-मानस के बीच साँसों का सेतु है। सारा जीवन प्राण और आकाश की अंत:क्रिया का कंपित अन्तराल है। जब साँसे भीतर आती हैं तक विराट चेतना व्यष्टि-प्राण में उतरती है और जब वे बाहर जाती हैं तब दो क्षण के लिए अंतश्चेतना आकाश में विलीन हो जाती हैं। आकाशीय कंपन के सांतत्य और जीवों की श्वसन प्रक्रिया में संतुलन का रहस्य बड़ा

गोपन है। प्रकृति में जहाँ कहीं इस संतुलन के बिन्दु उभरते हैं वहीं प्राणों की एक लहर उठती है और जीवन की संभावना का बीज अंकुरित होता है। भारतीय मनीषियों ने साँस के सूक्ष्म रूप को 'प्राण' कहा है और प्राण-विद्या की इतनी गूढ़ समीक्षा की है कि इसे पूरी तरह जानने वाला स्वयं सृष्टि-कर्त्ता हो जाता है। इस विद्या की एक सारस्वत परंपरा है जिसे 'स्वर विज्ञान' कहा जाता है। स्वर-विज्ञान के अनुसार गंगा सहस्त्रार और मूलाधार के बीच बहने वाली दिव्य आनन्द की देवधुनि है।

किसी नदी का कल-कल बहना कितना मनोहर लगता है। उसके शान्त निर्मल जल में बोह लेने से तो जैसे देह का बत्था दूर हो जाता है। जब कोई नदी देह के भीतर अपनी ही साँसों की तरह बहने लगे तब इस मन की आद्या, अद्वितीया, स्थिति की कथा कुछ और होती है। खास तौर से जब वह गंगा जैसी देव-प्राण की नदी हो तब आन्तरिक संवेदताओं का अर्थ एक बृहत्तर आयाम में खुलता है। भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि जहाँ कहीं कंपन है, वहीं कोई सूक्ष्म प्रकट होने की प्रतीक्षा में खड़ा है, जहाँ यह प्रतीक्षा बैठ जाती है वहीं दिव्य जीवन के स्फुरण की संभावना साकार हो जाती है। इसीलिए, क्वांटम यांत्रिकी भी परमाणु में प्राण की उपस्थिति स्वीकार करती है। हालाँकि, विज्ञान-दर्शन में यह बात कुछ संयम और संकोच के साथ कही जाती है, लेकिन उपनिषदों के द्रष्टा तो इसे ताल ठोंक कर कहते हैं। वस्तुतः, पदार्थ के अणु और जीव के प्राण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल चेतना के सोपान का अन्तर है। अन्तर्लोक की गंगा इसी भेद-दृष्टि को प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर निरस्त करती है। इस नाड़ी का स्वर जब आज्ञा-चक्र से ऊपर उठकर सहस्त्रार के शिव-लोक में चला जाता है तब मस्तिष्क में समाधि की धवल चाँदनी का रजत आलोक फैल जाता है। तब, यह लगने लगता है कि देह और प्राण, प्राण और मन तथा मन और उत्तर मानस में कोई विभाजन का पर्दा नहीं है। तब, भविष्य की यवनिका गिर जाती है, द्वैत की दीवार ढह जाती है और प्राणों के लिए सब कुछ इतना पारदर्शी लगता है कि जैसे देह नहीं है और मन ही किसी आनन्द की अनामा नदी के बोह ले रहा है।

जिसे हम बाहर पदार्थ जगत् के कणों का कंपन कहते हैं उसे ही अपने शरीर की सूक्ष्म कोशिकाओं में प्राण की संज्ञा दी जाती है। आकाश के कंपन को भी प्राण कहा जाता है, लेकिन तब जब उसे विश्व-पुरुष का पर्याय मान लिया जाता है। अर्थात्, कंपन किसी निर्जीव पदार्थ का दोलन है जबकि प्राण चेतना का स्पन्दन है। अंतर्लोक की गंगा ऐसे विद्युत्-प्रवाह की कोमल व्यंजना है जो सूक्ष्म प्राण को अनन्त आकाश से एकाकार कर देती है। प्राणों का कंपन भय का परिणाम है। भय अहंकार की देन है किसी कंपन का सहज भाव से ठहर जाना, विचारों का सहसा विलीन हो जाना, और मानसिक बिंबों का हठात् बिखर जाना इस बात का संकेत देते हैं कि अब कोई भय नहीं है, अहंकार नही हैं; अत: सबको सहजता से स्वीकार किया जा सकता है। जब तक निषेध हैं, निम्न कोटि का विकर्षण है और अपनी अहंता के सबसे विशिष्ट होने का निकृष्ट व्यामोह है तब तक कैवल्य का कपाट बन्द रहता है। गंगा मन को मन के पार बहा ले जाती है। उस समय मन स्वयं को कोसता है कि कितनी छोटी औकात थी और कितना पृथुल भ्रम था। यही भ्रम टूट जाता है तब भय दूर हो जाता है। इसीलिए, जब ऋषियों ने प्रार्थना की थी ''एषा के प्राण बिभे:'' (मेरे प्राणों में कभी भय व्याप्त न हो)। तब उनका असली आशय यही था कि उनके मन में सर्वज्ञ होने का अहंकार न अंकुरित हो। गंगा ऊर्ध्व चेतना की नदी है। देह की नाड़ियों की नन्हीं-नन्हीं कोशिकाओं के कण काँपते हैं। इस कंपन में एक जीवन्त चेतना के स्वर सुनाई देते हैं जिन्हें 'प्राण' कहा जाता है। इन स्वरों को एक संगीत की लय में बाँध देना, प्राणों में दीप्त आनन्द की पुलक भर देना और मन को समाधि के शब्दातीत सुख में निमग्न कर देना गंगा का अनिवार्य धर्म है। गंगा के फेनिल उछ्वास भर से मन की मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

सन्त मलूक दास का कथन है कि बदन में ही बैकुंठ है, अपनी काठी में ही कमलापति हैं और काया में ही काशी भी है — ''काया मधे कँवलापति, काया मधे कासी''। देह में काशी की प्रतिष्ठा का प्रश्न जटिल है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि गंगा के उस पार से कभी काशी-दर्शन करें तो लगता है किसी शान्त जल धारा की भौंह पर 'अपार्थिव' दिव्यता ने आकार ग्रहण कर

लिया है। योग की शब्दावली में काशी (भ्रुवो-घृणिस्य मध्यमे) भौहों और नाक के बीच स्थित है। विशुद्धि चक्र और सहस्रार के इस मध्यवर्ती चक्र को आज्ञाचक्र कहा जाता है — "आज्ञा चक्रं स्मृता काशी"। यह चक्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह चेतना को एक ओर तो देह से जोड़ता है और दूसरी ओर परमात्मा से संयोग करा देता है। वस्तुत:, यह अधोगामी प्राण और उत्तर मानस सन्धि-बिन्दु है। यह स्थूल जगत् और पराचेतना के बीच एक सेतु है। आत्म-बोध के लिए इस पुल को पार करना ज़रूरी है। श्रुतियों का निर्देश भी है — "एष सेतु विधरण:"। इड़ा स्वर जब आज्ञा चक्र तक पहुँचता है तब वह पिंगला से जुड़कर सुषुम्ना में समाहित हो जाता है। यहीं गंगा शिव से सर्वांग मिलन होता है। मस्तिष्क की करोड़ों नाड़ियों का तन्तुजाल भी जटा की तरह जटिल होता है। वैश्विक स्तर पर शिव की जटा का अर्थ कुछ और है, लेकिन दैहिक धरातल पर उसका अभिप्राय मस्तिष्क की नाड़ियों से ही है। इड़ा के आज्ञा-चक्र में प्रवेश करते ही चेतना का अणु-अणु अंकृत हो जाता है और लगता है शिराओं के पोर-पोर में अमृत का सिन्धु भर गया है। शिव के अबाध आलिंगन में बँधी गंगा तत्क्षण ऊपर उठकर सहस्रार की ओर बढ़ जाती है। इसीलिए, गंगा को शिव को सिर चढ़ी मान लिया जाता है।

गंगा पाप को डुबा देती है, दुष्कर्म को बहा ले जाती है लेकिन पुण्य कृत्य को उछालती है, सौम्य भाव को ऊपर उठाती है, उसे उदात्त बना देती है, सांसों में गंधर्व-सुगंधि की संवेदना भर देती है और मन को समाधि के ऐसे अद्‌भुत आनन्द से परिचय कराती है जो अपना ही स्वरूप है। अपने प्राणों के भीतर किसी नदी के बहने का अर्थ है जीवन को जल का पर्याय बना लेना और यह संकल्प लेना कि मन में छोटी-छोटी तरंगें भी किसी पवित्र उत्कंठा से प्रेरित रहें। साथ ही किसी और के मन को ऐसे छू ले जैसे उसी के भीतर से उठ रही हों। कितनी सारी लहरें हैं, लेकिन नदी एक है। अनगिनत वात-आवर्त हैं, लेकिन आकाश एकल और निष्कलंक है। असंख्य छवियों का रंग-बिरंगी मेला है, लेकिन क्षितिज एक है।

एक सवाल चुपके से सिर उठाता है — गंगा सूख रही है और एक दिन बिल्कुल सूख जाएगी फिर क्या होगा? तत: किम्? यह प्रश्न जितना दारुण हे

उतना ही दुःखद भी। सन्तोष इतने से है कि प्रकृति का प्रत्येक मनोरम आयाम एक दिन मलिन जरूर होगा, लेकिन गंगा जैसी प्राण-रेखा का लुप्त हो जाना अत्यन्त भयावह होगा। वैसे, अनेक लोक-पुरुष अवतार लेकिन विलीन हो गए और तत्काल युग परिवर्तन के संकेत उभरने लगे। राम गए, कृष्ण धरती छोड़ कर प्रयाण कर गए, बुद्ध हजारों भिक्षुओं का परित्याग कर चले गए और जन-समूह स्तब्ध रह गया — एक नवीन संस्कृति के अवतरण की प्रतीक्षा में। लेकिन, इन सारे परिवर्तनों के बीच जल-वायु का सन्तुलन बना रहा। आदमी जीवित रहा, आदमीयत की परिभाषा जरूर बदल गई।

गंगा का सूखना और उसके अन्तर्गर्भ में बालू का गुबार उठना एक प्रलयंकर दृश्य उपस्थित करेगा। तटवासी प्रान्त के करोड़ों लोग भूखे-प्यासे तड़पते नजर आएंगे। गंगा के नहीं रहने से भूगर्भ का जल भी सूख जाएगा और पानी के बिना सारा वायुमंडल — कहाँ जाईं, का करीं — के आर्त्त स्वर से काँप जाएगा। सारी मानवता, अबोध शिशु की तरह शुष्क-स्तना गंगा-मां के सामने रोती दीख पड़ेगी। जो अपने अन्तर में अमृत की धारा लिए बहती थी उसी में जहर की लहरें उठ रही हैं। प्रश्न उठता है, अब तक तो हम गंगा में सबका तर्पण करते रहे अब गंगा का तर्पण कहाँ करें?

अगर सूखने की बात चली, तो सबसे पहले धरती की गंगा सूखेगी। उसके गर्भ से लू की लहरें उठेंगी, ऊपर से चिनगारियों की ओस बरसेगी और सहस्र नाओं की फूत्कार जैसी साँसे चलेंगी सारा जल-तत्त्व अग्नि में रूपान्तरित हो जाएगा। यह प्रकृति का विधान है। इसे बदलना असंभव हैं। अब, बारी आकाश गंगा की आएगी। कोई दैत्यकारा कृष्ण-विवर अपने गर्भ में ताराओं के समूह को आत्मसात् करता हुआ आकाश-गंगा के करोड़ों तारक-निकाय को निगल जाएगा और तारा-पथ में झिलमिल करती आकाश-गंगा भी तिमिर में खो जाएगी। तब प्राणी और पदार्थ दोनों की अन्तर्सत्ता में निवास करने वाली अन्तर्गंगा की अलक्ष्य धारा पर ध्यान टिका रह जाएगा।

किसी सरिता का सूख जाना उसका मरना नहीं होता। मरने का अर्थ है विस्मृति के गर्त्त में विलीन हो जाना। सूखने के बाद भी गंगा जन-मानस में जीवित रहेगी। सरस्वती जैसी अनेक वैदिक नदियाँ सूखी हैं, लेकिन मरी

नहीं है। जब तक प्राणियों में स्नायु-संस्थान रहेगा, इड़ा और पिंगला में वायु-संचार होता रहेगा और उनका सुषुम्ना में अबाध मिलन चलता रहेगा तब तक गंगा बहती रहेगी। और, जब तक परमाणु के भीतर इलेक्ट्रॉन और प्रोटान परस्पर मिल कर न्यूट्रॉन की सृष्टि करते रहेंगे तब तक गंगा बहती रहेगी। सब कुछ शिव तत्त्व में समाहित होता रहेगा।

फिर प्रश्न उठता है कि परमाणु को कैसे विदित होगा कि उसके भीतर गंगा प्रवाहित हो रही हैं? प्रश्न कुछ जटिल हैं, क्योंकि भौतिकी की हमारी सारी न्यूटोनियन संधारणा में परिवर्तन करना पड़ेगा। न्यूटोनियन भौतिकी पदार्थ जगत् को एक मशीन मानकर चलती थी। एक पत्थर का टुकड़ा किसी लकड़ी के खण्ड से सर्वथा भिन्न और प्राणहीन समझा जाता था। लेकिन, क्वान्टम भौतिकी के बाद अत्यन्त सूक्ष्म धरातल पर सारे कण दूसरे पदार्थ के कणों से प्रभावित रहे हैं। साथ ही, क्वान्टम गुरुत्वाकर्षण तरंग-फलन का भौतिक रूपान्तरण कर देता है। अपने, माइक्रोट्यूबलों में प्रवाह के साथ संसक्ति के चलते मस्तिष्क की संक्रिया (ऑपरेशन) को प्रभावित करता है। और, भौतिक रूपान्तरण की तरह कुछ ऐसा होना चाहिए, जो आत्म-बोध उत्पन्न करता है। कहने का तात्पर्य यह कि सूक्ष्म कणों में प्राण जैसी सत्ता वर्तमान रहती है। आईन्स्टाइन, पोडोल्स्की और रोजेन के प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि विश्व के दो छोरों पर स्थित दो इलेक्ट्रानों में यदि पहले का स्पिन 'अप' हो दूसरा अपने 'अनुभव' के आधार पर शून्य स्पिन बनाए रखने के लिए अपना स्पिन 'डाउन' कर लेगा। इसका मतलब यह है कि इलेक्ट्रान भी संवेदनशील होते हैं।

भौतिक विज्ञान और चेतना विज्ञान गहरे अर्थों में एक-दूसरे के पूरक हैं। हमारी इलेक्ट्रॉन और क्वार्क से बनी दुनिया केवल ऊर्जा के 'बिन्दु' मात्र की संहति है। सब कुछ मात्र एक कंपन है। सारी सृष्टि एक सूक्ष्मतम 'सूत्र' से जुड़ी है। इस सूत्र (सुपर स्ट्रिंग) का मन की तरंगों से मेल खाता है या नहीं। शायद, इसका उत्तर क्वान्टम यांत्रिकी और सुपरस्ट्रिंग की एक संधि (आर्टिकुलेशन), जिसे एम-सिद्धान्त (एम-थ्योरी) कहा जाता है, में छिपा हो। एम-सिद्धान्त का अर्थ है 'जादुई' सिद्धान्त। एम मैजिक, मदर, मैजेस्टी

या मेम्ब्रेन आदि अर्थों में लिया जाता है। इस सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि मन का एक विचार सारे विश्व को प्रभावित कर सकता है। और तो और, ब्रह्माण्ड में कणों की जितनी तरंगे उठती हैं मनुष्य का दिमाग उनका एक अंश मात्र ग्रहण कर पाता है। वस्तुतः, ब्रह्माण्ड की रचना विचित्र है। क्वांटम-यांत्रिकी तो कहती है कि अगर जापान में तितली पंख फड़फड़ाये तो संभव है कि न्यूयार्क में भूकंप आ जाय, अगर सीरिया में किसी को छींक आ जाय तो प्रायिकता है कि रूस में आन्दोलन आरंभ हो जाय या अगर आकाश-गंगा में एक हिलोर उठे तो धरती के सारे समुद्र में आकाशचुंबी विप्लव उत्पन्न होने लगें।

यह सच है कि विश्व की सारी धनात्मक और ऋणात्मक ऊर्जाएँ एक अज्ञात कंपन के रूप में शिव में समाहित होती हैं। इड़ा और पिंगला भी परस्पर मिल कर सुषुम्ना में परिणत होती हैं जो निर्विकार शिव का प्रतीक है। हम भूल जाते हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क ब्रह्माण्ड की रचना के काफी बाद बना। फिर कौन बतलाए इस गुत्थी का रहस्य कि ब्रह्माण्ड के गर्भ में क्या चलता है? गंगा कहाँ से आती है, कहाँ चली जाती है, इसका उत्तर केवल काल-भक्षक निर्विकार शिव के पास संभव है। इसे त्रिनयन महादेव के नेत्रों का विषय (परम शिव मात्र दृङ्मात्र विषय) है। अल्पज्ञ मनुष्य और अधकचरे विज्ञान के माध्यम से इसका अर्थ नहीं निकल सकता। क्वार्क से भी सूक्ष्मतर कणों की अन्तर्कथा सचमुच दुरुह है। और, गंगा जैसी नदी जो परंपरा में रची होने के बावजूद परंपरा से कभी बँध कर नहीं बहती। वह चिरंतन, सनातन प्रवाह वाली नदी है जो सीमित मार्ग का अर्थ नहीं जानती। मार्ग सूख जाते हैं, गंगा के गर्भ से चांदनी जैसी बालू उड़ने लगती है, तब भी वह बहती रहती है। इसकी अमित गहनता को महसूस करते हुए ही गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है — "धन्वी, काम, नदी पुनि गंगा?"

वस्तुतः, गंगा साधारण नदी नहीं है। वह अनेक बन्धनों, बँधे उपमानों, मानकों, प्रतिमानों एवं परम्पराओं को तोड़ती बहती है। अनेक पथों को छोड़ कर चलती है। कहाँ विष्णु-पद, शंकर की काली जटा, हिमालय की कठोर चट्टानें, अनेक तीर्थ स्थानों के तट का निर्माण करती, दूर समुद्र के भीतर

सागर को भरती हुई कहाँ तक चली जाती है? चीनी भाषा में गंगा का अर्थ है मात्र 'जल' लेकिन भारतीय संस्कृति ने गंगा का अर्थ 'अमृत धारा' किया है। जल-प्रवाह तो कभी भी, कहीं भी सूख जाता है, लेकिन अमृत की लहर कभी नहीं सूख सकती। वह अंबर को चीर कर चलती है, धरती को तोड़ कर अपनी राह बना लेती है और पर्वतीय चट्टानों को फोड़ कर शालिग्राम को जन्म देती हुई बहती है। गंगा का एक नाम 'अदितांबर मार्गा' भी है। वह जहाँ भी चलती है, वहाँ आकाश रास्ता छोड़ देता है। गंगा कभी सूखती नहीं। वह पृथ्वी पर, पर्वत पर, पाताल में, पुष्कर पर, पराकाश में, पवन में, पानी में और प्राणों में सर्वत्र समान रूप में नित्य नदी की तरह प्रवाहित रहती है। जहाँ तक मनुष्य की तांत्रिक संरचना है, आकाश की प्यास है और ब्रह्माण्ड का अस्तित्व है तब तक अंतर्लोक में किसी-न-किसी रूप में गंगा बहती रहेगी। इसीलिए, श्रुतियाँ कहती हैं —

ब्रह्माण्डं खंडयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती।
स्वर्लोऽकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्ड शैलास्खलन्ती।।
श्रोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती।
पायोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनानु।।

अर्थात्, ब्रह्माण्ड को फोड़कर निकलने वाली, महादेव की जटा-लता को उल्लसित करती हुई, स्वर्ग लोक से गिरती हुई, सुमेरु की गुफा और पर्वतमाला से झरती हुई, पृथ्वी, पर लोटती हुई पाप समूह को फटकारती हुई, समुद्र को पूर्णता प्रदान करती हुई, देवपुरी की पवित्र नदी गंगा हमें पवित्र करे!



लेखक का आत्म-परिचय

जन्म १९४१ और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम०एस०सी० (फीजिक्स), पी०एच०डी०। काशी से अतिरिक्त मोह। यहीं भौतिकी विभाग से जुड़ा रहा और शिक्षण के साथ भौतिकी कक्ष के कार्यकारी पद से अवकाश लिया। इसके पूर्व संस्कृत में धर्म-रत्न, हिन्दी में साहित्य विशारद, डिप्लोमा इन योग, डिप्लोमा इन एडिटिंग और टीचर ऑफ ट्रान्सेन्डेन्टल मेडिटेशन जैसी पुच्छ उपाधियाँ अर्जित की। एटामिक एनर्जी कमीशन की पोस्ट ग्रेजुएट स्कालरशिप, नेशनल ब्यूरो ऑफ साइंस एवं वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान केन्द्र के आर्थिक साहाय्य से पी०एच०डी० सम्पन्न। साहित्य और दर्शन के अध्ययन और लेखन की दुष्प्रवृत्ति। वाग्मिता की दुर्ललित प्रखरता के कारण राष्ट्रीय यूथ फेस्टिवल में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से वक्ता नियुक्त। विज्ञान, भाषा विज्ञान, योग और वेद के विभिन्न आयोजनों में सहभागित्व। वर्ल्ड एसोसिएशन (अमेरिका) में कार्यकारिणी के अध्यक्ष एवं *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूइज्म* (अमेरिका) के राष्ट्रीय संपादक। स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुप्राणित विश्व-धर्म सम्मेलन (अमेरिका) एवं भारतीय जीवन के दिव्य आयाम पर भाषण के लिए लन्दन (मेन्टमोर) में आमंत्रित। विज्ञान में प्रथा-पालन के अतिरिक्त साहित्य और दर्शन की अनेक भावप्रवण पुस्तकें जैसे *प्रकाश की कथा* (मोनोग्राफ), *ऊष्मा और ऊष्मागतिकी, तरल यांत्रिकी, खगोलीय पिडों के परिक्रमण* कोपर्निकस, (अनुवाद), *योग एण्ड कॉस्मिक हॉर्मनी* (इंगलिश), *सनातन पीपल का उदास पंछी, शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक,* आदि।

Other books of related interest
published by **INDICA BOOKS**:

- **THE LINGA AND THE GREAT GODDESS**
  लिङ्गोपासना-रहस्य, श्रीभगवती-तत्त्व by Swami Karpatri
- Gaṅgā Laharī गङ्गालहरी of Paṇḍitarāja Jagannātha
  हिन्दी अनुवाद स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती
  English version by Boris Marjanovic
- **SHAIVISM IN THE LIGHT OF EPICS, PURANAS AND AGAMAS**
  by N.R. Bhatt
- **THE APHORISMS OF SIVA**
  trans. with exposition and notes by Mark S.G. Dyczkowski
- **A JOURNEY IN THE WORLD OF THE TANTRAS**
  by Mark S.G. Dyczkowski
- **ASPECTS OF TANTRA YOGA**
  by Debabrata SenSharma
- **AN INTRODUCTION TO THE ADVAITA SHAIVA PHILOSOPHY OF KASHMIR** by Debabrata SenSharma
- **ABHINAVAGUPTA'S COMMENTARY ON THE BHAGAVAD GITA**
  Gītārtha Saṁgraha
  trans. with introduction and notes by Boris Marjanovic
- **THE HINDU PANTHEON IN NEPALESE LINE DRAWINGS**
  Two Manuscripts of the Pratiṣṭhālakṣaṇasārasamuccaya
  compiled by Gudrun Bühnemann
- **A CONCISE DICTIONARY OF INDIAN PHILOSOPHY**
  by John Grimes
- **SELECTED WRITINGS OF M.M. GOPINATH KAVIRAJ**
- **श्री रमण महर्षि का उपदेश : अपनी सहज अवस्था में रहिये**
  सम्पादक डेविड गॉडमेन
- **आगम-संविद्** **Āgama-Saṁvid** (Sanskrit) डॉ. कमलेश झा
- **मीमांसा-पदार्थ-विज्ञानम्** (Sanskrit & Hindi)
  काशीनाथ न्यौपाने

शिव-संबोध और गंगा-प्रतीक के रचनाकार ने शिव को एक 'अद्भुत देवता' के रूप में प्रस्तुत किया है। दूर से लगता है कोई देव-पुरुष है, लेकिन निकट जाने पर लगता है कोई नहीं है। वह महत् देवता या महादेव है। शब्द-संयोजन की दृष्टि से वह इस ब्रह्माण्ड का ही नहीं बल्कि ऐंटिब्रह्माण्ड का भी नियन्ता है और अर्थ-गरिमा की दृष्टि से वह किसी काल-परिधि में नहीं, बल्कि काल का संपूर्ण आयाम स्वयं शिव में निवास करता है। वे केवल योगेश्वर नहीं अपितु परम योगीश हैं।

शिव किरणों के ऐसे नामीय बिन्दु है जहाँ से अनन्त रेखाएँ गुजरती हैं और हर रेखा एक नवीन चित्र का चुम्बन करती है। कहीं कुछ भी अशुभ नहीं, शिव की दृष्टि में सब कुछ मंगलमय है। शिव संन्यासी हैं, समाधिस्थ हैं, एक दम नग्न हैं, दूसरी ओर समेटे भवानी का भृकुटि-भंग, ताण्डव-ताल और नारी को अबाध आलिंगन में समेटे वे अर्द्धनारीश्वर हैं। अच्छे-बुरे के द्वैत से अतीत विश्व तीसरी संभावना के प्रमाण-द्रष्टा हैं। कठोर सत्य और मृदुल सौन्दर्य को सम्यक् अनुपात में बाँधने वाले शिव सचमुच 'अद्भुत' है।

शिव का मस्तक प्रतिष्ठित मूल्यों का अनादि स्रोत है। गंगा शिव सिरचढ़ी है। वह सहस्रार का सारा रस लेकर पृथ्वी पर आती है और तटवर्ती केन्द्रों पर विराट संस्कृति की छाप छोड़ती हुई चुपचाप बहती चली जाती है — एक प्रांजल प्रतीक की तरह।

Rs. 195